प्रकाशक
श्री कण्ठराव भट्ट,
शिवाजी बुकडिपो,
लखनऊ।

प्रथम संस्करण सन् १९४५
द्वितीय संस्करण सन् १९४६

मुद्रक—
मुकुन्ददास गुप्त 'प्रभाकर'
टाइम टेबुल प्रेस, बनारस।
१२१६-५-४९

विषय-सूची

प्रारम्भिका

आधुनिक कविता की पृष्ठभूमि पर 'प्रसाद' के कवि का यह निरीक्षण है। उन्होंने अपने अतीत को कितना ग्रहण किया, वर्तमान को कितना प्रभावित किया और भविष्य की एक स्वप्न-द्रष्टा की तरह कितनी कल्पना की; इन प्रश्नों का उत्तर इसमें खोजने की नम्र चेष्टा की गई है।

'प्रत्येक कलाकार अतीत का फल और भविष्य का बीज होता है'—यह एक अंग्रेज आलोचक का प्रसिद्ध कथन है। 'प्रसाद' इसके अपवाद न थे। उन्होंने अपने 'अतीत' से – हिन्दी की प्राचीन काव्यपरम्परा से—बहुत कुछ आत्मसात किया। उसी की भूमि पर खड़े होकर उनके कवि का स्वर मुखरित हुआ। ब्रजभाषा काव्य के माधुर्य से उनकी कल्पना के पर सिक्त थे। वर्तमान, खड़ी बोली का संदेश लेकर उनकी ओर निहार रहा था। कवि ने पुरातनवाद का 'चोला' शीघ्र ही फेंक दिया। उससे उन्हें इतनी विरक्ति हो गई कि ८ वर्ष पूर्व ब्रजभाषा में लिखे अपने एक काव्य को उन्होंने दुबारा खड़ी बोली में लिख डाला। पर खड़ी बोली के 'अक्खड़पन' को उन्होंने ग्रहण करने की चेष्टा नहीं की। बँगला और संस्कृत भाषा के अध्ययन का परिणाम यह हुआ कि उनकी रचनाओं में 'कोमल कांत पदावली' क्रमशः मुसकुराने लगी। 'प्रसाद' की भाषा के इसी गुण ने उन्हें अपने समकालीनों में सबसे आगे खींचकर खड़ा कर दिया। आध्यात्मवाद की भावना हिंदी काव्य साहित्य में 'आज' की देन नहीं है—'प्रसाद' की भी नहीं। लौकिक-अलौकिकता का चक्र सदा से चलता रहा है।

काल 'अति' का संतुलन करता रहता है। हिन्दी साहित्य का इतिहास इस तथ्य की साक्षी देता है। बौद्ध सिद्धों और नाथों के सूखे उपदेश-कथन ने निर्गुणवादी संतों में भावना की एक लहर बहाई पर जब वह जनसाधारण की रस-प्यास बुझाने में समर्थ न हो सकी तब 'सगुण भक्तिवाद' लोक-भावना को अपनी ओर खींचने लगा परन्तु

सगुणभक्ति के प्रसिद्ध प्रतीक—राधा-कृष्ण—ने इतनी व्यापकता धारण की कि वे धीरे धीरे किसी भी सलोनी स्त्री और सलोने पुरुष में झाँकने लगे। रीतिकाल भक्तिवाद के अतिरेक का ही परिणाम था। रीतिकाल को लौकिकवाद का युग कहना चाहिये। इस युग का काव्य किसी भी 'आलम्बन' में लौकिक विकारों की ही अभिव्यक्ति करता रहा है। आधुनिक युग ने लौकिकवाद-युग के अतिरेक के विरोध में अपनी आँखें खोलीं। प्रारम्भ में उसमें बीती 'रात' की ख़ुमारी का रहना स्वाभाविक था। अतः 'विकार' वे ही रहे पर उन पर अलौकिकता की 'छाया' डालने का अभिनय अवश्य किया गया। (यह मैं नहीं कहता कि आधुनिक काव्य में आध्यात्मिकता प्रेरणा के रूप में बिलकुल नहीं है। मेरे कहने का आशय इतना ही है कि वह जहाँ है वहाँ इतने कम परिणाम में है कि उसे युग की व्यापक भावना कहना आत्मप्रवंचना होगा।) यह कार्य भावों—विकारों—की अभिव्यंजना-प्रणाली विशेष के द्वारा किया गया, जो 'छायावाद' के नाम से पहचानी जाती है।

जड़वाद की इस शताब्दी में काव्य के चक्र का रूप सर्वथा 'अलौकिक' होना संभव था भी नहीं। यही कारण है कि 'प्रसाद' के कवि में ऐसे रूप बहुत ही कम आये हैं जब वे अपने 'जड़' को भूलकर एकदम 'चेतन' में खो गये हैं। हाँ, वे 'जड़' में ही इतने अधिक केन्द्रित हो सके हैं कि उसमें ही उन्होंने 'चेतन का आरोप कर उसका 'स्वर्गीकरण' (Sublimation) कर दिया है। यही कवि की महत्ता है और इसी से वे इतने लोकप्रिय हो सके हैं।

'आँसू' में 'लौकिक' के 'अलौकिक' सौंदर्य ने 'वर्तमान' को खूब भावित किया। इस छोटे से काव्य का छन्द इतना अधिक प्रचलित हुआ कि स्व० पं० अवध उपाध्याय ने अपने 'नवीन पिंगल' में 'आँसू' की पंक्तियों के छन्द का नामकरण ही 'आँसू-छन्द' कर दिया है। वास्तव में यह आनन्द छन्द है जिसमें १४-१४ के विराम से २८ मात्रायें होती हैं। हिन्दी के अधिकांश आधुनिक कवि 'आँसू' के किसी न किसी रूप में

आभारी हैं। सन् १९३८ में भारतीय साहित्य-परिषद के मराठी मुख पत्र 'चिंतन' के एक अंक में श्री वि० वा० बोरवणकर ने 'ऑसू एन्द' ही में "आँसू" का मराठी में अनुवाद प्रकाशित कराया है। हिन्दी पाठकों के मनोरंजनार्थ यहाँ दो पद्य दिये जाते हैं:—

इस करुणा कलित हृदय में क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरों में वेदना असीम गरजती ?
(हिन्दी)

या करुण कलित हृदयांत, कां विकल रागिणी वाजे ?
कां हाहाकार स्वरांत असीम वेदना गर्जे ?
(मराठी)

बुलबुले सिन्धु के फूटे, नक्षत्र मालिका टूटी।
नभ मुक्त कुन्तला धरणी, दिखलाई देती लूटी ॥
(हिन्दी)

बुडबुडे सिन्धु चे फुटले, नक्षत्रपालिका तुटली।
नभ मुक्त कुन्तला जगती, भासते अता लुटलेली ॥
(मराठी)

इससे प्रकट होता है कि 'आँसू' ने हिन्दी-जगत को ही नहीं अहिन्दी भाषाभाषियों को भी 'रस'-सिक्त किया है। हिन्दी के गीति-काव्यों में 'आँसू' को सबसे अधिक प्रसिद्धि प्राप्त हुई। 'प्रसाद' सजग कलाकार थे, वे अपने वातावरण से संकेत ले उसे अपनी भावनाओं से भरने की क्षमता ही न रखते थे, वे भविष्य की चिन्तना को भी पहचान सकते थे। इसी से 'कामायनी' में कोरी भावुकता हमें नहीं मिलती। विज्ञान-युग का बुद्धिवाद भी जो प्रगतिवाद के निकट है, उसमें तैर रहा है। सामञ्जस्य-प्रवृत्ति होने से उन्होंने प्राचीन और आधुनिक मान्यताओं का सफल एकीकरण किया है।

'प्रसाद' के काव्य में एक कमी है, जो उसका कदाचित् वैशिष्ट्य भी कहा जा सकता है, कि वह अधिकांश में संकेतात्मक होने के कारण Mass appeal (जनसाधारण में प्रविष्ट होने) की क्षमता नहीं रखता।

विश्वविद्यालयों से यदि उसकी मान्यता हट जाय तो संभवतः औसत बुद्धि के व्यक्ति उसे विस्मृत करने में ही सुख अनुभव करें। यह कटु कथन है पर निष्ठुर सत्य भी प्रतीत होता है।

पुस्तक लिखते समय यह सजगता रही है कि 'प्रसाद' साहित्य विद्यार्थियों से दूर न रह पायें। इसीलिए 'आँसू' की दुरूह समझी जानेवाली पंक्तियों की भीतरी भावनाओं को समझने की चेष्टा की गई है क्योंकि 'आँसू' ही ऐसी रचना है जिसमें कवि ने अपने को अधिक से अधिक व्यक्त किया है। यदि कवि को समझने में पाठकों की अभिरुचि को ज़रा भी सचेष्ट करने में यह पुस्तक सहायक हो सकी तो लेखक अपने श्रम को अव्यर्थ समझेगा।

नागपुर महाविद्यालय, नागपुर
विजयादशमी
सं० २००१ वि०

—विनयमोहन शर्मा

द्वितीय संस्करण का प्रकाशकीय वक्तव्य

हिन्दी के प्रसिद्ध समीक्षक प्रो० विनयमोहन शर्मा की "कवि प्रसाद, आँसू तथा अन्य कृतियाँ" का दूसरा संस्करण प्रस्तुत करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है। इसका पहिला संस्करण यद्यपि शीघ्र ही समाप्त हो गया था फिर भी कागज़ के बहुत समय तक प्राप्त न हो सकने के कारण हम इसके पूर्व इसका दूसरा संस्करण न निकाल सके। इस संस्करण को लेखक ने कई स्थलों पर परिवर्द्धित तथा संशोधित कर दिया है और इस तरह उसकी उपयोगिता बढ़ गई है। शर्माजी की संतुलित समीक्षा-शैली ने कवि की कृतियों का तटस्थ अध्ययन प्रस्तुत किया है, जिससे प्रसाद-काव्य-साहित्य के विद्यार्थियों को एक नवीन दृष्टि प्राप्त होगी। आशा है, पाठक इस संस्करण का भी प्रथम संस्करण के समान ही स्वागत करेंगे। यत्र-तत्र प्रूफ की अशुद्धियों के लिए हमें खेद है।

आधुनिक हिन्दी कविता और 'प्रसाद'

'प्रसाद' के पूर्व

'आधुनिक' की व्याख्या करते हुए रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने ठीक ही लिखा है कि "पत्रा-पंजी मिलाकर 'आधुनिक' की सीमा का निर्णय कौन करे? यह बात काल से उतना सम्बन्ध नहीं रखती, जितना भाव से रखती है।...नदी आगे की तरफ सीधी चलते चलते हठात टेढ़ी होकर मुड़ जाती है। साहित्य भी इसी प्रकार सीधा नहीं चलता। जब वह मुड़ता है तब उस मोड़ को ही 'मॉडर्न' या 'आधुनिक' की संज्ञा दी जाती है।"

हिन्दी साहित्य का आधुनिक युग भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से प्रारम्भ होता है। आधुनिकता की ओर पहले 'मोड़' के दर्शन उन्हीं के समय से होते हैं। भारतेन्दु के पूर्व हिन्दी कविता रीतिकालीन युग की आत्मा से उच्छ्वसित हो रही थी।

रीतिकालीन काव्य में मानव शरीर के प्रति रीझ-बूझ प्रबल थी। उसके मानसिक सौन्दर्य के साथ तादात्म्य स्थापित करने की बहुत कम चेष्टा की गई। उसमें व्यक्त विश्व से अदृष्ट सत्ता का आभास अनुभव नहीं किया गया। राधा-कृष्ण की ओट में लौकिक स्त्री-पुरुषों का उद्भ्रान्त शृङ्गार वर्णित किया गया; जैसा कि भिखारीदास की निम्न पंक्तियों से स्पष्ट है—

"आगे के कवि रीझि हैं तो कविताई
नतरु राधिका गोविंद सुमिरन को बहानो है।"

यदि हम यह कहें कि रीतिकालीन काव्य में वात्स्यायन के काम-सूत्रों की व्याख्या अधिक है, तो अनुचित न होगा।

उसमें मानव प्रकृति की सूक्ष्म भावनाओं पर ध्यान नहीं दिया गया। बाह्य प्रकृति (वन-उपवन, गिरि, सरिता, उषा-संध्या) की भी उपेक्षा की गई। प्रकृति 'आलम्बन' नहीं, उद्दीपन के रूप में ग्रहण की गई।

रीतिकालीन काव्य में जीवन के विभिन्न व्यापारों के प्रति उदासी-

नता पाई जाती है। उसमें एकाङ्गीपन अधिक है।

भारतेन्दु-काल तक आते-आते रीतिकालीन धारा चेपानी-सी बन गई थी। उसमें प्राचीन कवियों के भावों की पुनरावृत्ति के कारण बासीपन आ गया था। अतः भारतेन्दु के समय में नई दिशा की ओर स्वभावतः हिन्दी कविता मुड़ी। उसमें भाषा और विचारों में परिवर्तन दिखाई देने लगा। ब्रज-भाषा के स्थान पर खड़ी बोली की ओर प्रवृत्ति होने लगी। नये नये विषयों का समावेश हुआ। देश की आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक समस्याओं का झुँझलाहट भरा आवेग प्रकट होने लगा। इसमें सन्देह नहीं; बँगला और अङ्गरेज़ी साहित्य के अध्ययन ने भी हिन्दी कवियों की दृष्टि में विस्तार भर दिया। अतएव उनमें नायक-नायिकाओं के नख-शिख-वर्णन से पूर्ण शृङ्गारी रचनाओं के प्रति विशेष आसक्ति न रह गई। वे देश में क्रमशः सुलगने वाली जीवन-व्यापी चेतना के प्रति तटस्थ न रह सके। अतः उनकी रचनाओं में देश-प्रेम, समाज-सुधार आदि के विचारों ने प्रवेश किया। पर फिर भी मानव के स्थूल का आकर्षण लुप्त नहीं हो गया और यह संभव था भी नहीं।

स्त्री-पुरुष का आकर्षण चिरंतन सत्य है। पर मैं यह मानने को तत्पर नहीं हूँ कि इस आकर्षण में लैङ्गिक ज्वार का उठना अनिवार्य ही है। रसेलवादी भले ही कुछ अमेरिकन स्त्रियों की इस आकांक्षा को विज्ञापित करें कि "हमसे बहुत सी सम्भ्रान्त घराने की स्त्रियों ने कहा कि हम कुछ घंटों को वेश्या बनकर उस जीवन का अनुभव लेने को बेतहाशा ललच उठती हैं" और उनके इस कथन का विश्लेषण बदनाम अनैतिकतावादी मनोवैज्ञानिक ग्रंटेलरसेल इन शब्दों में भले ही करे कि "स्त्री-पुरुष स्वभावतः क्रमशः बहु पुरुष-स्त्रीगामी होते हैं। वे कुछ या बहुत काल तक भले ही एक व्यक्ति के प्रेम में बँधे रहें पर एक समय आता है जब उनको प्रेम की ज्वाला

चुझने लगती है और वे अपने में नया उभार लाने के लिए नए साथी की खोज में व्यग्र हो जाते हैं"। जो रसेल के व्यक्तिगत जीवन से परिचित हैं, उन्हें उसके इस निष्कर्ष में—जहाँ तक उसका व्यक्तिगत अनुभव है—अतिरंजन नहीं दिखाई देगा। रसेल के स्त्री-पुरुष सम्बन्धी सिद्धान्तों को बहु मान्यता प्राप्त नहीं हुई, क्योंकि उनसे समाज की स्थिति में प्राकृतिक सुधार की आशा नहीं की जाती। स्त्री-पुरुष का देह से ही नहीं, मन से भी सबल और स्वस्थ होना आवश्यक है। मन की आमर्श-वृत्ति अस्वस्थता का चिह्न है। अतः जिस साहित्य में मन के अनियंत्रित चांचल्य का चित्रण होगा, उसमें कला का सुन्दरम् भले ही हो, पर जीवन का 'शिवम्' कदापि नहीं दिखाई देगा!

अथर्ववेद में एक उच्छिष्ट-सूक्त है। उसमें 'उच्छिष्ट' की बहुत प्रशंसा की गई है। 'यंग विल्डर' में श्री क्षितिमोहन जी ने उस सूत्र की निम्न शब्दों में बड़ी सुन्दर व्याख्या की है—"मनुष्य और जगत की सारी समृद्धि उच्छिष्ट है। उपभोग के बाद जो कुछ रह जाता है, उसी में से उसकी उत्पत्ति होती है। जिस वस्तु का हमने उपभोग किया, उसका तो क्षय हुआ और जो अवशेष रह गया उसी में से मानव इतिहास, सभ्यता, संस्कृति, धर्म, कला, सौन्दर्य और बन्धुत्व आदि तत्वों की उत्पत्ति हुई। भोग-विलास में तृष्णा का अंश अधिक होता है। इसलिए जो कुछ सामग्री मिलती है सबका उपभोग हो जाता है; कुछ अवशेष नहीं रहता। उसमें उच्छिष्ट न रहने से सृष्टि को निर्माण के लिए अवकाश नहीं मिलता। कामोपभोग की तृष्णा तो वंध्या स्त्री के समान है। और सृजनहार में लोभ तृष्णा कुछ भी नहीं। इसलिये वह सतत काल सृष्टि कर सकता है।"

यही कारण है कि परकीया नायिका, शठ नायक-दूती लीला आदि की ऊहात्मक रचनाओं में काम-विज्ञान की बारीकियाँ भले ही विशद दीख पड़ती हों, पर उनमें जीवन की प्राकृतिक स्थिति का अभाव ही

पाया जाता है। उनसे न तो सृजनहार जी पाता है और न उनका आस्वादी।

काव्य में शृङ्गार रस के सम्बन्ध में स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा ने लिखा है—"शृङ्गार रस के काव्यों में परकीया आदि का प्रसंग कुरुचि का उत्पादक होने से नितान्त निन्दनीय कहा जाता है। यह किसी अंश में ठीक हो सकता है, पर ऐसे वर्णनों से कवि का अभिप्राय समाज को नीतिभ्रष्ट और कुरुचि सम्पन्न बनाने से नहीं होता, ऐसे प्रसंग पढ़कर धूर्त, विटों की गूढ़-लीलाओं की दाँव-घात से परिचय प्राप्त करके सभ्य समाज अपनी रक्षा कर सके, इस विषय में सतर्क रहे। यही ऐसे प्रसंग-वर्णन का प्रयोजन है। काव्यालंकार के निर्माता रुद्रट ने भी यही बात दूसरे ढँग से कही है—

"नहि कविना परदारा एष्टव्या नापि चोपदेष्टव्याः।
कर्त्तव्यतयान्येषां न च तदुपायोऽभिधातव्यः।
किन्तुतदीयं वृत्तं काव्याङ्गतया स केवलं वक्ति।
आराधयितुं विदुषस्तेन न दोषः कवेरत्र।"

परन्तु शृङ्गारी कविता की उपयोगिता को सिद्ध करने के लिए जो तर्क स्व० पं० पद्मसिंह शर्मा ने प्रस्तुत किए हैं, वे किसी भी अनैतिक कृत्य का नैतिक अभिप्राय बन सकते हैं। काव्य में 'शृङ्गार' के हम विरोधी नहीं हैं पर "यहि पाखैं पतिव्रत ताखैं रखौ"* में हम फिसलन ही पाते हैं; जिससे कलाकार के लिए अमर सृजन की कुछ भी सामग्री 'उच्छिष्ट' नहीं रह पाती। जो 'वस्तु' उसमें सृजन की प्रेरणा भर सकती है वही जब 'भुक्त' हो जाती है तब उसकी 'कला' का सिन्दूर ही पुछ जाता है—उसकी सिहरन सदा के लिये सो जाती है। भोग-शृङ्गार का वर्जन इसीलिए कल्याणकारी है।

हमारे साहित्य में, वर्षों से 'भोग-शृङ्गार' (जिसमें काम-शास्त्र की ही पद्य-बद्ध विवेचना है) की जो लहर बह रही थी, वह हरिश्चन्द्र-

* भारतेन्दु हरिश्चन्द्र।

काल में एकदम कैसे रुक सकती थी ? हाँ, उसमें एक परिवर्तन अवश्य हुआ कि जहाँ रीतिकालीन कवि 'नारी' के शरीर तक ही अपनी दृष्टि दौड़ा सके, वहाँ भारतेन्दु-काल के कवियों ने उसके अतिरिक्त भी जैसा कि ऊपर कहा गया है, अपने चारों ओर झाँकने का भी प्रयास किया। इसीसे जहाँ भारतेन्दु ने—

"तेरी अँगिया में चोर बसैं गोरी।
छोड़ि दे किन बंद चोलिया पकरैं चोर हम अपनो री।" †

जैसी रीतिकालीन परम्परा के अनुरूप 'होली' लिखी वहाँ उन्होंने अपने देश की दशा पर चार आँसू भी बहाये—

"सोई भारत भूमि भई सब भाँति दुखारी।
रह्यौ न एकहु वीर सहस्रन कोस मँझारी॥
होत सिंह को नाद जौन भारत बन माहीं।
तहँ अब ससक सियार स्वान खर आदि लखाहीं॥
जहँ झूसी उज्जैन अवध कन्नौज रहे वर।
तहँ अब रोवत सिवा चहूँ दिसि लखियत खँडहर॥
धन विद्या बल मान वीरता कीरति छाई।
रही जहाँ तित केवल अब दीनता लखाई॥"

आपके समकालीन लेखकों में भी देश की सामयिक अवस्था के प्रति झुकाव पाया जाता है। बाबू बालमुकुन्द गुप्त ने लिखा है—

"भारत घोर समान है, तू आप मसानी।
भारतवासी प्रेत से, डोलत हैं कल्यानी॥
हाड़-माँस नर-रक्त है, भूतन की सेवा।
यहाँ कहाँ मा, पाइये, चंदन घी मेवा॥"

इसी प्रकार स्व० पं० प्रतापनारायण मिश्र ने भी अपनी व्यंगात्मक शैली में "सर्वसु लिये जात अंगरेज"—की आवाज बुलन्द की थी।

† भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा भाग

भारतेन्दु के घनिष्ट मित्र मध्यप्रान्त के स्व० ठा० जगमोहनसिंह ने 'ऋतु संहार' में 'भारत' की व्रज-भाषा में स्तुति की है। *

इस तरह हम देखते हैं कि इन कवियों ने राधा-कृष्ण की काम-क्रीड़ा की छलकन से कुछ विरक्त हो अपनी स्थिति पर विचार करना प्रारंभ कर दिया था। यहाँ 'विचार' शब्द का प्रयोग मैं साभिप्राय कर रहा हूँ, क्योंकि उस समय कविताओं से विभिन्न-सिद्धान्तों के प्रचार का ही कार्य लिया जाता था। उनमें मानसिक कोमल भावनाओं का समावेश बहुत कम था। उनका उद्देश्य सामयिक समस्याओं की ओर जनता का ध्यान खींचना भर था।

जिस प्रकार भारतेन्दु कालीन कविता नवीन विषयों की ओर झुकी, उसी प्रकार उसकी भाषा में भी व्रज भाषा के स्थान पर खड़ी बोली का क्रमशः प्रवेश होने लगा। भारतेन्दु बाबू ने परिमार्जित व्रज-भाषा में अधिकांश रचनाएँ की हैं। क्योंकि वे उसे ही पद्य के लिए उपयुक्त समझते थे। फिर भी, वे खड़ी बोली के एकदम विरोधी न थे। कुछ रचनाएँ उन्होंने खड़ी बोली में भी की हैं। आपके समकालीन

---

* सुभ मधि जंबू दीप दीप सम अति छवि छायो।
तामैं भारतखंड सरस विधि आपु बनायो॥

कवियों ने भी खड़ी बोली को कुछ अंश में अपना लिया था पर उसमें ब्रज-भाषा के चलते शब्दों का भी वे मेल कर दिया करते थे। (भाषा में सुधार का कार्य स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी द्वारा बाद में प्रारम्भ किया गया।)

कुछ समय तक हिन्दी के विद्वानों में "कविता के लिए खड़ी बोली उपयुक्त है अथवा ब्रज-भाषा!" पर वाद-विवाद चलता रहा। एक पक्ष कहता था—"कविता के लिए ब्रज-भाषा ही अपनाई जानी चाहिए, क्योंकि इसमें माधुर्य खड़ी बोली की अपेक्षा बहुत अधिक है।" दूसरा पक्ष ब्रज-भाषा को एक प्रान्त की भाषा मानता था और कहता था जब खड़ी बोली का प्रचार देश में बढ़ता जा रहा है, तब कविता क्यों एक प्रान्तीय भाषा में लिखी जाय! तीसरा पक्ष भाषा के झगड़े को मिटाने के लिये यह कहता था कि कविता ब्रज-भाषा और खड़ी-बोली दोनों में लिखी जा सकती है। अतएव विषय के अनुरूप भाषाओं का प्रयोग किया जाना चाहिए। इसलिए हम देखते हैं कि भारतेन्दु बाबू के समय और उनके कुछ समय बाद भी हिन्दी के कवि दोनों भाषाओं में कविता किया करते थे। अतएव स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के सरस्वती का सम्पादन-भार ग्रहण करने के पूर्व तक कोई कवि केवल खड़ी बोली में ही रचना करने के लिए प्रसिद्ध नहीं हुआ। द्विवेदीजी ने ही खड़ी बोली को हिन्दी-कविता का वाहन बनाया। 'वर्ड्स्वर्थ' के समान उनका भी मत था कि बोलचाल की भाषा में गद्य ही नहीं पद्य भी लिखा जा सकता है और लिखा जाना चाहिए।* 'वर्ड्स्वर्थ' का यह स्वप्न सत्य न हो सका पर द्विवेदीजी के लिए वह सत्य ही सिद्ध हुआ।

---

* "It may be safely affirmed that there is neither is nor can be any difference between the language of prose and metrical composition."

Words Worth.

पर विषय में 'माधुर्य' की अन्तर्भूति की छाया न रहने से वे विशेष रसवती न बन सकीं। फलतः उनमें स्थायित्व न आ सका।

भारतेन्दु के पश्चात् स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के 'सरस्वती' का सम्पादन-भार ग्रहण करने पर हिन्दी-साहित्य उन्हीं को केन्द्र बनाकर गति-शील हुआ। हिन्दी साहित्य पर फलतः उनका प्रभाव फैल गया। लगभग सन् १९०४ से सन् १९२० तक उन्हीं की साहित्यिक मान्यताओं और विचारों को अधिकांश हिन्दी साहित्य-कारों ने अपनाने की चेष्टा की। आधुनिकता की दूसरी मोड़ के दर्शन यहीं से होते हैं। अतएव काव्य सम्बन्धी उनकी धारणाओं को जान लेना आवश्यक है। आप लिखते हैं—

"अन्तःकरण की वृत्तियों के चित्र का नाम कविता है। नाना प्रकार के योग से उत्पन्न हुए मनोभाव जब मन में नहीं समाते, तब वे आप-ही-आप मुख के मार्ग से (प्रलाप की राह भी उनके लिए कँधी हुई नहीं है। लेखक) बाहर निकलने लगते हैं; अर्थात् वे मनोभाव शब्दों का स्वरूप धारण करते हैं। यही कविता है।"...... "आज कल लोगों ने कविता और पद्य को एक ही चीज़ समझ रखा है। यह भ्रम है। कविता और पद्य में वही भेद है जो अंग्रेज़ी की 'पोइट्री' (Poetry) और 'वर्स' (Verse) में है। किसी प्रभावोत्पादक और मनोरंजक लेख, बात या वक्तृता का नाम कविता है, और नियमानुसार

ही में विभाव-अनुभाव आदि से परिपुष्ट इतना रस भरा हुआ हो कि उसके स्वाद से श्रोता पाठक तृप्त हो जायँ, सहृदयता की प्यास बुझाने को उसे अगली-पिछली कथा का सहारा न लेना पड़े, वह 'मुक्तक' कहलाता है। हिन्दी में 'मुक्तक' को ही 'फुटकर कविता' कहते हैं।' 'मुक्तक' में कवि को 'गागर' में 'सागर' भरना पड़ता है। इसीलिये ऐसे काव्य में सौन्दर्य भरने के लिए कवि को शब्दों की अभिधा शक्ति से कम, ध्वनि-व्यञ्जना से अधिक काम लेना पड़ता है। बिहारी के 'दोहे' मुक्तक का अच्छा उदाहरण कहे जाते हैं।

तुली हुई सतरों का नाम पद्य है। जिस पद्य को पढ़ने या सुनने से चित्त पर असर नहीं होता, वह कविता नहीं, वह नपी तुली शब्द-स्थापना मात्र है"

आचार्य चूँकि मराठी पद्य-साहित्य से भली भाँति परिचित थे अतः हिन्दी कविता में भी मराठी भाषा सी गद्यात्मकता वे ले आए। पर इनमें भी सन्देह नहीं कि कविता की व्यापक व्याख्या द्वारा उन्होंने आधुनिक कविता की कई नई प्रवृत्तियों का द्वार खोल दिया। उसके विषय, उसकी भाषा, उसकी अभिव्यञ्जना प्रणाली आदि में हमें हरिश्चन्द्र-काल से अधिक विस्तार और अधिक आधुनिकता दिखलाई देती है। यह बात दूसरी है कि उनकी व्याख्या के अनुसार उनके काल की कविता अपने को सँवार न सकी।

कविता के विषय के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदी जी लिखते हैं—

"चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त, पथ-भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त, जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन हो सकता है फिर क्या कारण है कि इन विषयों को छोड़कर कोई-कोई कवि स्त्रियों की चेष्टाओं का वर्णन करना ही कविता की चरम सीमा समझते हैं? केवल अविचार और अन्ध-परम्परा।" विषयों की व्यापकता बढ़ाने पर भी द्विवेदी काल में 'स्त्रियों की चेष्टाओं' के वर्णन की 'इति' नहीं हो गई। आचार्य द्विवेदीजी द्वारा सम्पादित 'कविता कलाप' में संगृहीत ४६ कविताओं में से लगभग २९ कविताएँ 'स्त्री' सम्बन्धिनी हैं। आचार्य स्वयं स्त्रियों की चेष्टाओं के वर्णन से अपनी लेखनी को दूर नहीं रख सके। 'प्रियंवदा' के विषय में उनकी निम्न पंक्तियाँ पढ़िये—

"यह है प्रियंवदा पति प्यारी।
कुल कामिनी परमा नारी।

इसकी रुचिर रेशमी सारी।
तन की द्युति दूनी विस्तारी।
× × ×
पुष्पों ने भी माना इसने।
मंद मंद मुसकाना इसने।
मुख-शशि चमकाना इसने।
जरा नहीं शरमाना इसने।
कच-कलाप बिखराये कैसे!
कुम्कुम सुघर बनाये कैसे!
दर्शक दृग यदि उन पर जाते।
फिर वे नहीं लौटने पाते।"

द्विवेदी-युग के अन्य कवियों ने भी नारी के शरीर-वर्णन का लोभ संवरण नहीं किया। 'शंकर' (स्व० पं० नाथूराम 'शंकर' शर्मा) की सुप्रसिद्ध रचना 'वसंत-सेना' में पढ़िए—

'उन्नत उरोज यदि युगल उमेश हैं तो,
काम ने भी देखो दो कमानें तानकी हैं।
'शङ्कर' कि भारती के भावने भवन पर,
मोद महाराज की पताका फहरानी है।
किंवा लट नागिनी की सांवली सँपेलियों ने,
आधे विधु-बिम्ब पै विलास विधि ठानी है।
काटती हैं कामियों को काटती रहेंगी कहो,
भृकुटी कटारियों का कैसा कड़ा पानी है।"*

विषयों से 'नारी' का लोप न हो जाने पर भी शृङ्गार के उच्छृङ्खल रूप को आलोच्य काल में प्रोत्साहन नहीं मिला। इसी से इसको "आदर्शवादी युग" (Puritan age) कहा जाता है।

---

* आचार्य द्विवेदी जी द्वारा सम्पादित 'कविता कलाप' से।

यह इतिवृत्तात्मक काव्य का युग रहा है। इसमें कवियों की दृष्टि 'वस्तु' के बाह्य अङ्ग पर जाकर ही झुक गई। वह उसके साथ अपना तादात्म्य स्थापित न कर सकी।

देश में बंग-भंग के कारण स्वदेशी आन्दोलन के बवंडर ने 'बंग-भूमि' को ही नहीं भर दिया, समस्त देश उससे हिल उठा। पूना से लोकमान्य तिलक 'केसरी' द्वारा 'स्वराज्य हमारा जन्म सिद्ध-अधिकार' की हुङ्कार मचा रहे थे। जनता की सुप्तप्राय राजनीतिक चेतना जागने के लिए आँखें मलने लगी थी। धार्मिक-क्षेत्र में आर्य-समाज ने हिन्दू-समाज के रूढ़िवाद को ठोकरें मारना और 'हिन्दू-हिन्दी और हिन्दुस्तान' के प्रति पक्षपात तथा प्रेम भरने का उपक्रम किया। इसी से द्विवेदी-युग की रचनाओं में जहाँ राष्ट्रीयता-जातीयता के स्वर निकलने लगे, वहाँ धार्मिक-सामाजिक प्रश्नों को बौद्धिक दृष्टि से देखने का उपदेश भी सुनाई देने लगा।

इस काल के कवियों ने पौराणिक और ऐतिहासिक आख्यानों को भी अपनाने की चेष्टा की जिससे खंडकाव्य और महाकाव्य भी रचे जाने लगे।

परपरिष्कृत हो गए। "साँवरो गलो में माय फाँसरो गड़तु है" की ध्वनि का मोह छोड़कर 'खड़ी बोली' में वे बोलने लगे।

द्विवेदी-काल ही में खड़ी बोली की रचनाओं में माधुर्य आने लगा था। बँगला, अँगरेज़ी और संस्कृत साहित्य के अध्ययन-मनन से काव्य में प्राचीन और अर्वाचीन भावों का समावेश होने लगा था, और शब्द-भाण्डार में भी नए-नए शब्द और मुहावरों की वृद्धि होने लगी थी।

इसी युग में काव्य की अभिव्यक्ति के रूप में भी रूढ़ि के प्रति विद्रोह के चिह्न दिखलाई देने लगे थे। संस्कृत-वृत्तों—विशेषकर वर्ण-वृत्तों का प्रयोग होने लगा था। हरिऔधजी की रचनाओं में यह रूप स्पष्ट लक्षित होता था।

पर द्विवेदी-युग का काव्य रूखी नैतिकता और 'इतिवृत्तात्मकता' के लिए ही प्रसिद्ध है। उसमें रीतिकालीन युग की 'रसिकता' के प्रति 'प्रतिवर्तन' स्वभावतः पाया जाता है।

'प्रसाद' का प्रादुर्भाव

स्व० आचार्य पं० महावीरप्रसादजी द्विवेदी के साहित्य-क्षेत्र में अव-तीर्ण होते ही 'प्रसाद' के कवि का जन्म हो जाता है पर जिस वात्सल्य रस की वर्षा आचार्य ने बाबू मैथिलीशरण गुप्त तथा अन्य कवियों पर की, इसकी एक फुहार भी 'प्रसाद' तक न पहुँच सकी। अतः उनका विकास किसी का आश्रय लेकर नहीं हुआ—वे स्वयं ही अङ्कुरित हुए, पल्लवित हुए, फूले और महके।

सन् १९०९–१९१० से उनकी कविता का काल प्रारम्भ होता है। प्रारम्भ उन्होंने 'ब्रजभाषा' से ही किया क्योंकि उस समय यद्यपि 'खड़ी बोली' का स्वर सुन पड़ता था, पर वह गद्य के लिए ही अधिक उपयुक्त समझी जाती थी—पद्य में 'ब्रजभाषा' का ही सम्मान जारी था। उनकी प्रथम प्रकाशित कृति 'चित्राधार' में 'ब्रजभाषा' का ही

रस लहरा रहा है। पर ब्रजभाषा का मोह 'प्रसाद' को अधिक काल तक आच्छादित न रख सका—एक-दो वर्ष बाद ही खड़ी बोली उनकी कविता में मुखरित हुई—ब्रज की केवल स्मृति—मिठास-लेकर। भावनाओं को 'रूप' दे, उन्हें नए-नए 'साँचों' में ढालने की कला का प्रादुर्भाव 'प्रसाद' से ही होता है।*

'प्रसाद' चूँकि आधुनिक हिन्दी कविता में रहस्यवाद—छायावाद की भावनाओं को प्रतिष्ठित करनेवाले माने जाते हैं, इसलिए हम रहस्यवाद-छायावाद पर प्रथम विवेचन कर 'प्रसाद' के काव्य की परीक्षा करेंगे। 'प्रसाद' से ही आधुनिक हिन्दी काव्य को तीसरी 'मोड़' खिंच जाती है।

---

* "प्रसादजी हिन्दी में अतुकान्त कविता के प्रारम्भकर्त्ता हैं। निस्सन्देह हिन्दी में कवियों में उनके लिखने के बहुत पहिले भी अमित्राक्षर कविता लिखी गई है किन्तु मात्रिक छन्दों में उसका प्रयोग तथा भावों और वाक्यों को—चरणों के बन्धन में न पड़कर—स्वतन्त्र गति, प्रारम्भ और अवसान,—प्रसादजी की ही सृष्टि है।"

(करुणालय का वक्तव्य)

रहस्यवाद-छायावाद और 'प्रसाद'—

'रहस्य' का अर्थ है गुप्त-प्रच्छन्न,-अव्यक्त। और जिसमें गुप्त, प्रच्छन्न और अव्यक्त का उल्लेख है, वही 'रहस्यवाद' है। आवरण को निरावरण करने की प्रवृत्ति मनुष्य-मात्र में प्रारम्भिक काल से रही है। 'दर्शन' की उत्पत्ति इसी जिज्ञासा का परिणाम है। उपनिषदों ने उसी 'प्रच्छन्न' को देखने का कुतूहल है। रूप जगत क्या है!— मैं (आत्मा) क्या हूँ? 'आत्मा' और 'जगत' का सम्बन्ध क्या है? 'जगत' किसकी सृष्टि है! वह (सः) कौन है! 'सः', 'जगत' और 'आत्मा' के बीच क्या कोई 'शृङ्खला' है? ये प्रश्न हैं जो 'दर्शनों' में अनेक तर्क वितर्कमय उत्तरों के पश्चात भी प्रश्न ही बने हुए हैं। उनका निष्कर्ष है; वह, (सः) अनुभव किया जा सकता है— उसका वर्णन नहीं हो सकता। ईसाई दार्शनिक कहते हैं, "प्रेमिका के उसास भरे वक्षस्थल का जैसे कोई उन्मत्त प्रेमी आलिङ्गन करता है और उससे जो मीठा-मीठा कुछ भीतर ही भीतर घुटने लगता है— कुछ ऐसा ही 'उसके' सान्निध्य का अनुभव होता है"। बौद्ध इस प्रश्न पर मौन धारण कर लेता है; वेदान्ती 'नेति-नेति' (यह नहीं, यह नहीं) कह कर रुक जाता है; सूफी एक उर्दू कवि के शब्दों में उसको प्रत्येक स्थल पर अनुभव करता है।—

"ज़ाहद! शराब पीने दे मसजिद में बैठकर।
या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा न हो।"

वह अपनी सत्ता को उसी में खो देता है।*

सूफी कवि रूमी ने सूफी ध्येय को एक उदाहरण द्वारा बड़ी

---

* "Sufi strives to lose humanity in beauty. Self annihilation is his watch word."

सुन्दरता से समझाया है—

"किसी ने प्रियतम के द्वार को खटखटाया। भीतर से एक आवाज़ ने पूछा—"तू कौन है?" उसने कहा—"मैं।" आवाज़ ने कहा—"इस घर में…'मैं और तू' दो नहीं समा सकते।" दरवाज़ा नहीं खुला। व्यथित प्रेमी वन में तप करने चला गया। साल भर कठिनाइयाँ सहकर वह लौटा और उसने फिर दरवाजा खटखटाया। उससे फिर प्रश्न हुआ—"तू कौन है?" प्रेमी ने उत्तर दिया—"तू" दरवाज़ा खुल गया। *

'अद्वैतवादी' भी उसको अपने ही में देखता है। इसी से वह कहता है—"सोऽहम्"—'मैं ही वह हूँ।' वह आत्मा में ही परमात्मा को अधिष्ठित देखता है और जगत को 'मिथ्या' समझता है। उसका विश्वास है कि आत्मा पर माया का आवरण पड़ा † रहने से हम 'उसके' दर्शन नहीं कर पाते। आवरण को विदीर्ण कर ही हम

---

* सूफ़ी कवि मलिकमुहम्मद जायसी ने भी कहा है—

हौं हौं कहत सबै मत खोई।
जो तू नाहिं आहि सब कोई।"

—पद्मावत

† 'संसार अपनी ही कल्पना है, जैसी कल्पना होगी वैसा ही वह बनेगा। यही चिरन्तन रहस्य है।'—

मैत्रेयी उपनिषद्

"यह संसार जिस वस्तु का बना हुआ है वह मानसिक वस्तु ही है। हमारा परिचित संसार मन की सृष्टि है। बाह्य, भौतिक संसार सब छाया मात्र रह गया है। संसार सम्बन्धी भ्रम के निवारण के लिये हमने जो प्रयास किए उनसे दृश्यमान स्वरूप संसार का ही निवारण हो गया क्योंकि हमने देख लिया कि सबसे बड़ी भ्रम की वस्तु स्वयं संसार ही है।"

—एडिंग्टन और जीन्स।

पर उसकी आभा का प्रकाश पड़ता है और हम उसे अपने में अनुभव करने लगते हैं।

सूफी और अद्वैतवादी (निर्गुणवादी) दोनों ही जगत को मिथ्या मानते हैं, परन्तु सूफी जगत के 'नूर' में परमात्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। उसे वह परमात्मा के विरह में व्याकुल देखता है; इसी से परमात्मा तक पहुँचने के लिए वह भौतिक वस्तु के प्रति आसक्ति धारण कर प्रेम-विभोर हो जाता है। उसका साधन प्रेम है, और साध्य भी प्रेम।

द्वैतवादी (सगुणोपासक) आत्मा (जीव) को ब्रह्म से पृथक मानता है। वह अद्वैतवादी की तरह दोनों को एक नहीं मानता। वह सायुज्य मुक्ति की कामना भी नहीं करता। अपने आराध्य को अपलक आँखों से देखते रहने और उसका सान्निध्य शाश्वत बनाये रखने में ही अपने को कृतकृत्य मानता है।* उसे अपना 'यार' ही सब कुछ है और उसके बिना 'सब'-कुछ नहीं। वह धार्मिक ग्रन्थों में वर्णित स्वर्ग की कामना भी नहीं करता।

कुमारी अंडरहिल अपनी Essentials of Mysticism में लिखती हैं—We cannot honestly say that there is any wide difference between Brahmin, Sufi and Christian.

अब प्रश्न यह उठता है कि विभिन्न 'दर्शनों' के गुप्त रहस्य को खोजने का उद्देश्य क्या है? उसे जानकर उन्हें क्या प्राप्त होता है? इसका उत्तर केवल एक शब्द में दिया जा सकता है। और वह है—'आनन्द'।†

---

* "कहा करौं बैकुंठ लै, कल्प वृक्ष की छाँह।
'अहमद' ढाक सुहाइये, जो प्रीतम गल बाँह॥"

—अहमद

† "को जानै को जैहै जमपुर को, सुर पुर पर धाम को।
तुलसिहि बहुत भलो लागत जगजीवन रामगुलाम को॥"

—तुलसी (विनय पत्रिका)

सांसारिक संघर्षों से हटकर मनुष्य ऐसी स्थिति † में पहुंचना चाहता है, जहाँ केवल 'आनन्द' की ही वर्षा होती है। जीवन के विविध ताप (दुख) पिघलकर बह जाते हैं। उपनिषद्कार कहते हैं—

"आनन्दादेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन। जातानि जीवन्ति आनन्दम्प्रयान्त्यभिसंविशन्ति।"

"यह सृष्टि आनन्द से ही उत्पन्न हुई है आनन्द की ओर ही इसकी गति है और आनन्द में ही स्थिति।"

'दर्शन' की 'रहस्य'-भावना को 'काव्य' में किस रूप में अपनाया गया है; इसे हमें समझ लेना चाहिए और यही समझकर हमें चलना चाहिए कि 'दर्शन' (Philosophy) काव्य नहीं है और यह भी कि काव्य में दार्शनिक भाव-व्यन्जना होने पर भी वह (काव्य) 'दर्शन' नहीं बन जाता।

'दर्शन', तर्क और ज्ञान से 'रहस्य' को समझने का आग्रह करता है, काव्य 'उसे' अपने में आच्छादित कर लेने की व्याकुलता प्रकट करता है। दर्शन 'चिन्तन' है—विचार है; कविता अनुभूति है, भाव है। 'दर्शन' 'उसे' दूर रख कर खुली आँखों से देखने की चेष्टा करता है; काव्य 'उसे' अपने ही में उतार कर निमीलित नेत्रों से उसका दर्शन करता है। जहाँ 'रहस्य' के प्रति हमारा 'राग' जाग उठता है, हम 'उसकी' ओर अपने को भूलकर खिंचने लगते हैं; वहीं 'काव्य' की भूमिका प्रस्तुत हो जाती है। 'रहस्य' की ओर खिंचाव-आकर्षण ही रहस्यवादी काव्य को जन्म देता है। 'रहस्य' जैसा कि अभी तक के विवेचन से स्पष्ट है, उस 'परोक्ष' सत्ता को कहते हैं, जो

---

† रहस्यवाद भी एक मानसिक स्थिति ही है। स्पर्जियन ने अपने एक ग्रन्थ में लिखा है—"Mysticism is in truth a temper, rather than a doctrine, an atmosphere, rather than a system of philosophy."

हमारी पार्थिव आँखों के ओझल है, परे है! उसी को अनुभव करने, पहचानने की ललक-चाह—रहस्यवादी काव्य में दीख पड़ती है। अपनी प्रवृत्ति और विश्वास-भावना के अनुसार एक रहस्यवादी जगत में परोक्ष सत्ता का आभास पाकर उसके साथ अपना सम्बन्ध जोड़कर हर्ष-पुलक से भर जाता है, दूसरे जगत को असत्य मान उससे विरक्त हो अपने भीतर ही उस सत्य के दर्शन कर आत्म-विभोर हो जाता है।* इस प्रकार के द्रष्टा को आत्मवादी या व्यक्तिवादी भी कह सकते हैं, तीसरा किसी व्यक्ति ही को 'उसका' प्रतीक मान उसमें अपनी भावनाओं को केन्द्रित कर उसी का सान्निध्य चाहता है।

इस प्रकार रहस्यवादी अपनी आत्मा के चेतन को झाँकने के लिए उन्मुख होता है, स्थूल प्रकृति में समष्टि रूप से चेतनता का आरोप कर उससे अपना रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है और उसे अपना ही अंश अनुभव करने लगता है। और वह व्यष्टि ही में परोक्ष चेतन का आरोप कर भी आत्मविस्मृत हो जाता है। प्रत्येक रहस्यवादी के लिए आकर्षण के आधार का एक होना आवश्यक नहीं पर उस आधार में उस रहस्यमयी परोक्ष सत्ता की अनुभूति में सबका एक होना निश्चय ही आवश्यक है।

जो प्रकृति के किसी सीमित स्थूल सौन्दर्य पर ही अपनी राग-रंजित आँखें बिछा देते हैं वे मधुरतम श्रेष्ठ कवि हो सकते हैं, पर 'रहस्यवादी' कवि नहीं।

'वर्तमान हिन्दी कविता' में 'रहस्यवाद' की संज्ञा 'प्रसाद' जी के शब्दों में है— "अपरोक्ष अनुभूति, समरसता तथा प्राकृतिक सौन्दर्य द्वारा अहं (आत्मा) का इदम् (जगत) से समन्वय करने का सुन्दर

---

* "गगन मंडल के बीच में, जहाँ सोहंगम डोरि।
सबद अनाहद होत है, सुरत लगी तहँ मोरि॥"

कबीर

प्रयत्न। हाँ, विरह भी युग की वेदना के अनुकूल मिलन का साधन बन-कर इसमें सम्मिलित है।"

इस तरह के रहस्यवाद को सूफी भावना के अन्तर्गत ले सकते हैं, जिसमें 'ससीम' में 'असीम' का आरोप किया जाता है। विरह-वेदना सूफी-काव्य की आत्मा है।

अपनी भावनाओं को स्थूल (सीमा) पर आधारित कर भी यदि किसी रचना में कवि का लक्ष्य 'परोक्ष' के प्रति नहीं है, तो हम उसे 'रहस्यवादी' काव्य नहीं कहेंगे। अब प्रश्न उठता है—क्या रहस्यवादी काव्य का आलम्बन सीधा 'परोक्षसत्ता' हो सकता है ? इस सम्बन्ध में स्व० पं० रामचन्द्र शुक्ल का मन्तव्य विचारणीय है—"हृदय का अव्यक्त और अगोचर से कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। प्रेम, अभिलाषा जो कुछ प्रकट किया जायगा वह व्यक्त और गोचर ही के प्रति होगा। प्रति-बिंबवाद, कल्पनावाद आदि वादों का सहारा लेकर इन भावों को अव्यक्त और अगोचर के प्रति कहना और अपने काल्पनिक रूप-विधान को ब्रह्म या पारमार्थिक सत्ता की अनुभूति बताना, काव्य-क्षेत्र में एक अनावश्यक आडम्बर खड़ा करना है।" आचार्य, हृदय के राग का 'अव्यक्त' आलम्बन स्वीकार नहीं करते। वे कहते हैं—"उपासना जब होगी तब 'व्यक्त' और 'सगुण' की ही होगी; 'अव्यक्त' और 'निर्गुण' की नहीं। 'ईश्वर' शब्द ही सगुण और विशेष का द्योतक है, निर्गुण और निर्विशेष का नहीं।"

ऊपर हमने निर्गुण, सूफी और सगुण रहस्यवादियों की चर्चा की है। इन तीन वादियों में व्यावहारिक दृष्टि से सूफी और सगुणवादियों में अन्तर नहीं है। दोनों अपने हृदय के राग को 'व्यक्त' पर ही आधारित करते हैं। अब रह गए निर्गुणवादी-अद्वैतवादी। वे भी अपनी हृदय-भावना को एकदम अव्यक्त पर नहीं जमाते। उन्हें लौकिक प्रतीक ढूँढ़ने ही पड़ते हैं। कबीर कहते हैं—

"हरि मेरो पिउ हम हरि की बहुरिया।"

अनुभूति को व्यक्त करने के लिए आत्मवादी को भी अपने से बाहर देखना पड़ता है। अतः यह सिद्ध हुआ कि काव्य में रहस्य-भावना सर्वथा अदृष्टावलम्बित नहीं रहती। अभिव्यक्ति के लिये उसे 'व्यक्त' का आधार ग्रहण करना पड़ता है, जो प्रतीकात्मक हो सकता है। रहस्यवादी रचना को पहचानने के लिये हमें कवि की मूल भावना की तह में जाना आवश्यक होता है। केवल अनन्त, अन्तरिक्ष, क्षितिज, असीम आदि शब्दों को देखकर ही उसे रहस्यावलम्बी नहीं मान लेना चाहिये। कभी कभी मनुष्य 'इस अवनी' के' कोलाहल' से ऊब कर भी मन की ऐसी अवस्था चाहता है, जो सांसारिक सुख-दुखों से परे हो जाय। 'प्रसाद' ने "ले चल वहाँ भुलावा देकर, मेरे नाविक! धीरे-धीरे।" (लहर) में ऐसी कामना की है। उन्होंने ऐसे लोक में जाना चाहा है जहाँ एकान्त हो और कानों में निश्छल प्रेम का संगीत झरता हो, जिसमें विभोर हो, जीवन अपनी सांसारिक क्लांति को खो सके। इस मायामय चंचल विश्व में 'उसी' का ऐश्वर्य व्यापक रूप से छाया हुआ दीख पड़े, जिससे सुख दुख दोनों समान समझ पड़ें—दोनों ही 'सत्य' जान पड़ें। हम दोनों से समान सुख अनुभव कर सकें। ऐसे लोक में श्रम और विश्राम में विरोध न हो, वहाँ किसी का जीवन केवल 'श्रम ही-श्रम' न हो और न कोई केवल 'विश्राम' ही का सुख लूटता हो। और वह लोक ऐसा हो जहाँ जागृति ही का सतत प्रकाश फैलता रहता हो।

इस रचना में हमें कवि की अदृष्ट लोक की (चाहे वह मानसिक ही हो) कल्पना मिलती है। हम ऐसा कहीं संकेत नहीं पाते कि कवि को वह 'लोक' मिल गया है—वह अपनी 'साधना' से वहाँ पहुँच गया है। परंतु 'लहर' में प्रकाशित 'उस दिन जब जीवन के पथ में' शीर्षक रचना से हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कवि ने अन्तर्मुख होकर वह रहस्य जान लिया है। जब साधक अपने ही में अनन्त रस का सागर

लहराता हुआ अनुभव करता है तब वह मधु-भिक्षा की रटन अधर में लेकर घर-घर भटकने की आवश्यकता नहीं समझता। पर कवि की यह भावना अपने ही अन्तर के रस में भीगे रहने की प्रवृत्ति क्या स्थायित्व लाभ कर सकी है? यदि कोई 'सत्य' किसी को मिल जाता है और उस पर उसकी आस्था जम जाती है तो वह फिर उसी में अपने को केन्द्रित कर उसी की तान भरता है—उसी को प्रतिध्वनित करता है। परन्तु हम देखते हैं, 'प्रसाद' के मन में आत्म-सत्य की एक क्षणिक लहर ही उठी थी, वह फैलकर 'सागर' नहीं बन सकी। अन्यथा चारों ओर 'मधु-मंगल की वर्षा' की अनुभूति ही उन्हें विकम्पित करती रहती। 'विषाद' उनके जीवन को आच्छादित न कर सकता।

अतएव रचना की केवल आकृति (Form) को देखकर ही उसकी 'वस्तु' की आध्यात्मिक प्रेरणा की कल्पना न कर लेनी चाहिए। हमें देखना चाहिए कि काव्य का रूप (आकृति) कवि के आन्तरिक जीवन से स्पन्दन ग्रहण कर रहा है या केवल बुद्धि का विलास है? आधुनिक रहस्यवादी रचनाओं में 'बुद्धि का विलास' (Intellectual exerciso) ही अधिक पाया जाता है। उनमें 'क्रोचे' के मतानुसार 'आकृति' (Form) को ही अधिक महत्व दिया जाता है क्योंकि उससे सौन्दर्य की अभिव्यक्ति होती है और यह निश्चय ही बाह्य-सौन्दर्य है। प्राचीन रहस्यवादियों ने आकृति पर ध्यान नहीं दिया, उन्होंने 'वस्तु' को—'तथ्य' को—'भावसत्य' को—ही प्रधानता दी, क्योंकि वे तो उस 'सत्य' को अपनी 'वाणी' से नीचे 'शब्दों' में उतार चुके थे। अतः 'अटपटे शब्दों में' भी उनकी अनुभूति की अभिव्यक्ति सहज मधुर हो सकी और हमें दिखा सकी।

कहीं यह आग्रह नहीं है कि रहस्यभावना सच्चे साधु-संतों के हृदय में ही गर्भित हो सकती है, पर यह ठीक है कि उसका स्थायित्व उन्हीं में रह सकता है, जिनकी वृत्तियाँ सचमुच उसी भावना में रँग चुकी हैं।

यों, प्रायः मनुष्य के हृदय में—चाहे उसका जीवन किसी भी नैतिक धरातल पर स्थित हो—ऐसे क्षण कभी अवश्य आते हैं, जब वह अन्तर्मुख हो किसी अदृष्ट सत्ता के प्रति आसक्ति सी अनुभव करता है। ऐसे व्यक्ति यदि कलाकार या कवि होते हैं, तो अपनी इस अनुभूति को व्यक्त कर देते हैं पर चूँकि उनकी अनुभूति क्षणिक होती है इसलिए उनकी अभिव्यक्ति भी अधूरी और धुँधली होती है। 'प्रसाद' में ऐसी अनुभूति की कभी-कभी लहर सी उठती दीख पड़ती है—पर जब उस अनुभूति की केवल कामना भर उनके मन में होती है, तब हमें उस कामना को ही रहस्य भावना नहीं समझ लेनी चाहिये।

रहस्यवाद की चर्चा के साथ छायावाद का भी प्रायः उल्लेख किया जाता है। परन्तु यदि गम्भीरता से विचार किया जाय तो छायावाद कोई 'वाद' नहीं बन सकता। उसके पीछे कोई दार्शनिक या परम्पराजन्य भूमि नहीं दिखाई देती। उसे हम काव्य की एक शैली कह सकते हैं।

छायावाद को हम काव्य की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति कह सकते हैं। उसमें 'जीवात्मा की दिव्य और अलौकिक शक्ति से अपने शांत और निश्छल सम्बन्ध की चेष्टा' मात्र ही नहीं पाई जाती; स्थूल सौन्दर्य के प्रति मानसिक आकर्षण के उच्छ्वास भी अङ्कित देखे जा सकते हैं। इस तरह छायावाद के लिए अलौकिक सत्ता के प्रकाशन की आवश्यकता नहीं है। उसमें व्यष्टि की किसी अभावजनित अन्तर्व्यथा भी झलक सकती है और बाह्य प्रकृति के प्रति आसक्ति भी।

द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक (Matter of fact) रचनाओं की रूक्षता की प्रतिकृति के रूप में जब आभ्यन्तर भावों का विशेष ढँग से प्रकटीकरण होने लगा, तब उसमें नवीनता देख उसे 'छाया' वाद' की संज्ञा दी गई। उसमें शब्द-योजना और छन्द-विन्यास में रीतिकाल के काव्य की अपेक्षा निश्चय ही वैचित्र्य पाया जाने

मोती की तरह अन्तर स्पर्श करके भाव समर्पण करनेवाली अभिव्यक्ति छाया कान्तिमय होती है।"

'प्रसाद' तथा कतिपय अन्य समीक्षक 'छायावाद' को काव्य की एक शैली तो मानते हैं पर उस शैली के निश्चित तत्त्व भी निर्धारित करते हैं। वे हृदय से स्वभावतः झरनेवाले भावों की अभिव्यक्ति मात्र को ही 'छायावाद' के अन्तर्गत नहीं मानते। प्रत्युत अभिव्यक्ति में, वक्रता, प्रतीकात्मकता भी आवश्यक समझते हैं; पर पं० देवप्रसाद मिश्र की राय है कि 'छायावाद' की रचना के लिए "हृदय में केवल वेदना ही चाहिए, वह स्वयं अभिव्यक्ति का मार्ग ढूँढ़ लेती है।" मिश्रजी की यह व्याख्या उस समय प्रकाशित हुई थी जब हिन्दी में द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक कविता की प्रतिक्रिया स्वरूप कवि अन्तर्मुख हो रहे थे। उस समय अन्तर्मुखी रचना को ही "छायावाद" कहा जाता था। उसके 'आलम्बन' की ओर ध्यान नहीं जाता था। वक्रतामयी अभिव्यक्ति भी आवश्यक गुण नहीं माना जाता था।

तभी एक ओर—

'हे मेरे प्रभु व्याप्त हो रही, है तेरी छवि त्रिभुवन में;
तेरी ही छवि का विकास है, कवि की वानी में, मन में।"

रामनरेश त्रिपाठी

जैसी पंक्तियाँ (जिनमें परमात्मा को लक्ष्य कर 'कुछ' लिखा गया है) छायावाद की रचनाओं के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत की जाती थीं, वहाँ सुभद्राकुमारीजी की यह रचना भी जिसमें लौकिक प्रेम का रस छलछला रहा है, 'छायावाद' की रचना समझी जाती रही है—

"तुम मुझे पूछते हो, जाऊँ! क्या जवाब दूँ तुम्हीं कहो!
'ना...' कहते रुकती है जबान किस मुँह से तुमसे कहूँ रहो!
सेवा करना था जहाँ मुझे कुछ भक्ति-भाव दरसाना था।
उन कृपा-कटाक्षों का बदला, बलि होकर जहाँ चुकाना था।

मैं सदा रूठती ही आई, प्रिय ! तुम्हें न मैंने पहचाना।
वह मान बाण सा चुभता है, अब देख तुम्हारा यह जाना।"

'छायावाद' की रचना के लिए न तो 'आलम्बन' विशेष का बन्धन था और न अभिव्यक्ति की प्रणाली ही आवश्यक थी। जिसमें 'हृदय' के राग की छाया दीख पड़ती, वही 'छायावाद' की रचना समझी जाती थी। हम 'छायावाद' को 'हृदयवाद' का पर्याय मानते हैं। अतएव उसकी व्यापकता को स्वीकार कर उन सभी रचनाओं को छायावाद के अन्तर्गत मानते हैं, जिनमें आन्तरिक अनुभूति प्रतिध्वनित होती है। साथ ही जब हम 'छायावाद' को एक काव्य की शैली-विशेष भी कहते हैं, तब हमें अनुभूति की अभिव्यक्ति में निरालापन भी दिखाई देना चाहिये। यह 'निरालापन' कई रूप धारण कर सकता है। सरल भाषा में अर्थ गाम्भीर्य भर और प्रतीकात्मक भाषा में भाव-सूक्ष्मता का आभास प्रस्तुत कर हमें कला-सौन्दर्य से विमुग्ध बना सकता है। अतः 'छायावाद' की रचना के लिए निम्न दो बातें आवश्यक हैं—

1—रचना को आन्तरिक अनुभूतिमय होना चाहिये और २—रचना की अभिव्यक्ति में 'निरालापन' होना चाहिये। यह निरालापन शब्दों की किसी भी 'शक्ति' से प्राप्त किया जाय।

प्रगतिवाद और 'प्रसाद'

आधुनिक हिन्दी काव्य-सरिता की चौथी मोड़ भी 'प्रसाद' के जीवन-काल में स्पष्ट दिखाई देने लगी थी। जिस प्रकार द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता की प्रतिक्रिया स्वरूप रहस्यवाद और छायावाद का प्राबल्य हुआ उसी प्रकार रहस्यवाद और छायावाद की स्वर्गिक कल्पनाओं और मधु संकेतों के अतिरेक ने दृश्य जगत की ओर कलाकार की दृष्टि केंद्रित की। सन् १९३५-३६ से यह प्रवृत्ति व्यापक रूप धारण करने लगी। व्यक्ति के रुदन, अभिसार से वह आँख मीचने लगा। आसमान मे ओस पत्तों पर बिखर कर अब 'मोती' नहीं बनतीं; 'मोती' बनते हैं खेतों-खलिहानों में कृषक-किशोरी के कपोलों पर झलकने वाले स्वेद-कण। कल साहित्यकार में समाज समाया हुआ था, आज समाज में साहित्यकार समा गया है। कल का वह दृश्य जब 'खय्याम' का कवि किसी तरु-तले लेटा शीतल समीरण के हलके-हलके झोंके खा 'साक़ी' की अधखुली आँखों से 'आसव' के प्याले की प्रतीक्षा में रह रह सिहर उठता था, उसे नहीं भाता। वह अपने चारों ओर की वस्तु स्थिति को खुली आँखों से देखना चाहता है, बुद्धि से समझना चाहता है और उसे आज के अनुकूल बनाने का हल खोजना चाहता है। उसकी 'भीतर' से 'बाहर' झाँकने की इस चेष्टा को ही 'प्रगतिवाद' कहा जाता है—जो परिचित शब्द यथार्थवाद के अधिक निकट है। 'प्रसाद' ने इस प्रकार के साहित्य की चर्चा निम्न शब्दों में की है—"वेदना से प्रेरित होकर" जन-साधारण के अभाव और उनकी वास्तविक स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न यथार्थवादी साहित्य करता है। इस दशा में प्रायः सिद्धान्त बन जाता है कि हमारे दुःख और कष्टों के कारण प्रचलित नियम और सामाजिक रूढ़ियाँ

हैं। फिर तो अपराधों के मनोवैज्ञानिक विवेचन के द्वारा यह भी सिद्ध करने का प्रयत्न होता है कि वे सब समाज के कृत्रिम पाप हैं। अपराधियों के प्रति सहानुभूति उत्पन्न कर सामाजिक परिवर्तन के सुधार का आरम्भ साहित्य में होने लगता है। इस प्रेरणा में आत्म-निरीक्षण और शुद्धि का प्रयत्न होने पर भी व्यक्ति के पीड़न, कष्ट और अपराधों से समाज को परिचित कराने का प्रयत्न भी होता है और यह सब व्यक्ति वैचित्र्य से प्रभावित होकर पल्लवित होता है। स्त्रियों के सम्बन्ध में नारीत्व की दृष्टि ही प्रमुख हो कर, मातृत्व से उत्पन्न हुए सब सम्बन्धों को तुच्छ कर देती है। वर्तमान युग की ऐसी प्रवृत्ति है। जब मानसिक विश्लेषण के इस नग्न रूप में मनुष्यता पहुँच जाती है, तब उन्हीं सामाजिक बन्धनों की बाधा घातक समझ पड़ती है और इन बन्धनों को कृत्रिम और अवास्तविक माना जाने लगा है।"

एक प्रसिद्ध तरुण प्रगतिशील कवि* अपने निजी पत्र में लिखते हैं—"प्रगतिशीलता में यथार्थवाद वहीं तक है कि उसमें लेखक या कवि का Treatment यथार्थवादी होता है। यथार्थवाद for the sake of यथार्थवाद नहीं...प्रगतिशीलता में साहित्य की निश्चित आदर्शवादिता रहती है। प्रगतिशील लेखक वास्तव में यथार्थवादी कम होता है, आदर्शवादी अधिक। उन आदर्शों का स्रोत "greatest good of the greatest number", में निहित रहता है।" इनके मत से प्रगतिवादी 'स्वान्तःसुखाय' नहीं, 'बहुजन हिताय' साहित्य सृजन करता है और यही उसका 'आदर्श' है। पर ऐसे प्रगतिवादी अधिक हैं, जो कहते हैं—'प्रगतिवाद के पीछे मार्क्सवाद की फिलासफी है, जो जीवन को एक भौतिक द्वन्द्व के रूप में आगे बढ़ना देखती है, आज के पूँजीवाद का मरणोन्मुख रूप,

* श्री 'अञ्चल'

समाज का ह्रास और आगे बढ़ने का एक ही मार्ग—श्रमजीवी वर्ग का क्रांतिकारी बल... । ये दो दार्शनिक सिद्धान्त आपस में टक्कर लेते हैं—हीगल का आदर्शवाद और मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद* (Dialectical materialism)."

एक मराठी आलोचक का मत है—"वाङ्मय में समाजवाद, साम्यवाद, राजनीति आदि विषयों को देखकर लोग चौंकते हैं परन्तु इसमें चौंकने की बात ही क्या है ! हमारा जीवन और हमारी सामाजिक परिस्थितियाँ राजनीतिक गुत्थियों से इतने सम्बद्ध हैं कि हमारे साहित्य में राजनीतिक समस्याएँ आयेंगी ही, समाजवाद आयेगा ही। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि जिस रचना में लाल झण्डा, कुदाली फावड़ा है, वही प्रगतिशील साहित्य है। प्रगतिशील साहित्य में वास्तववाद का चित्र खिंच आना चाहिये। परिस्थिति को चित्रित करनेवाला साहित्य ही जीवित रहेगा।"

प्रगतिवादी साहित्यकारों के विभिन्न दृष्टिकोणों को पढ़ने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अभी वे अपने 'वाद' की स्पष्ट रूप-रेखा नहीं खींच सके; वे यथार्थवाद और आदर्शवाद में से किसी एक को ही अपनाने में झिझकते हैं। अतएव अपने विचारों को इस तरह उलझी हुई भाषा में रखते हैं कि जिससे वे अपने को यथार्थ-वादी और आदर्शवादी दोनों कह सकें और वे अपना दार्शनिक आधार 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' मानते हैं। अतएव हमें सबसे पहिले 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' को ही समझने का प्रयत्न करना चाहिये।

यह 'वाद' (Dialectical materialism) मार्क्स ने अपने गुरु हीगल के दर्शन तत्वों के विरोध से निर्मित किया है। मार्क्स अपनी आयु के पचास वर्ष तक हीगल को देवता के समान पूजता था। वह उसकी आकर्षण शक्ति पर बेहद मुग्ध था, उसमें दैवी आभा

* प्रो० प्रकाशचन्द्र गुप्त।

देखकर आत्मविभोर हो उठता था, पर धीरे-धीरे उसे हीगल की सम्मोहनशक्ति से विरक्ति हो गई; उसके 'दर्शन' को 'शराबी की कल्पना-तरंग' कह कर उसने अपने गुरु से लोहा लिया। हीगल जहाँ त्रिगुणातीत ब्रह्म को ही अन्तिम सत्य मानता था, वहाँ मार्क्स 'जड़वाद' ही को सब कुछ समझता था। हीगल के विरुद्ध फॉदरबक ने प्रथम बग़ावत का झण्डा फहराया। मार्क्स ने हीगल के 'चैतन्य' को तो ठुकरा दिया पर उसे देखने की जो हीगल की द्वन्द्वात्मक भूमिका थी, उसको उसने ग्रहण कर लिया; साथ ही फॉदरबक के जड़वाद को अपना कर उसने अपना नया गत्यात्मक या विरोध-विकास-जन्य जड़वाद निर्माण किया।

जहाँ हीगल कहता है कि द्वन्द्व प्रक्रिया से—संघर्ष से—'चैतन्यमय' विश्व का प्रकटीकरण होता है वहाँ मार्क्स संघर्ष को—द्वन्द्व को किसी परिणाम का कारण तो मानता है—वह मानता है कि द्वन्द्व से विश्व या सृष्टि का प्रकटीकरण होता है, पर वह उसमें 'चैतन्य' को सम्मिलित नहीं करता। 'जड़-सृष्टि' के विकास का आशय क्रांति है—वह क्रांति जो मज़दूरशाही को जन्म देती है - मज़दूरों का राज्य स्थापित करती है। मज़दूरशाही तभी क़ायम हो सकती है जब 'बुर्ज़ुआ वर्ग' से संघर्ष लिया जाय और यह संघर्ष 'क्रांति' खड़ी कर देने से ही फलदायी हो सकता है।

'क्रांति'—संघर्ष—का रूप भीतर और बाहरी दोनों हो सकता है। वर्तमान सामाजिक और राजनीतिक स्थिति में क्रांति करने के लिए व्यक्तियों के हृदयों में परिवर्तन पैदा किया जा सकता है और उन्हें बलप्रयोग से ध्वंस भी किया जा सकता है। आभ्यन्तर—परिवर्तन के उद्देश्य से जो क्रान्ति खड़ी की जाती है, उसमें समय लगता है। मार्क्सवाद हृदय-परिवर्तन में आस्था नहीं रखता। कल्पना, भावना जैसी कोमल मनोवृत्तियों का उसमें स्थान नहीं है। इसीलिए वह

'बल-प्रयोग' में विश्वास रखता है। मार्क्सवाद 'वस्तु' को उसके भादर्श रूप में ही देखता है।

उसका दृष्टिकोण ही (objective) (वाह्यात्मक) है क्योंकि उसका विश्वास है कि 'वस्तु' के ऊहापोह से वस्तु का असली रूप प्रकट नहीं होता, वरन् हमारी ही कल्पना हमारे सामने खड़ी हो जाती है—हम 'वस्तु' में अपना ही रंग भरकर उसे विकृत बना देते हैं, तभी मार्क्सवादी 'यथार्थवादी' होता है। जो 'मार्क्सवाद' में 'आदर्शवाद' की चर्चा करते हैं, वे उसकी 'दर्शन'-नींव को अपने से ओझल रखते हैं। मार्क्स-दर्शन जड़वादी होने के कारण करुणा, नीति या आचारवाद पर विश्वास नहीं रखता। उसमें "आध्यात्मिकता (spirituality)" का स्वभावतः अभाव है।

मार्क्स का यह दर्शन, जैसा कि कहा जा चुका है, हीगल के तत्त्व-ज्ञान से 'चैतन्य' को अलग करके ही निर्मित किया गया है। प्रो० लेवी के शब्दों में मार्क्स का यह दृष्टिकोण "वास्तववादी" है।

कई मार्क्सवादियों का विश्वास है कि साहित्य-कला अपने समय को ही प्रतिबिम्बित करती है। वे यह नहीं मानते कि कलाकार भविष्य का भी स्वप्न देख सकता है; आत्मदर्शन में उनकी आस्था नहीं है। उनका कहना है कि संसार में कला, नीति, विज्ञान आदि का जो विकास दीख रहा है, वह भौतिक परिस्थिति को ही मूल रूप में धारण किए हुए है। अतः समय विशेष की कला आदि के विकास के कारणों को ढूँढ़ने के लिए हमें तत्कालीन सामाजिक, आर्थिक समस्याओं पर दृष्टिपात करना होगा। परन्तु मार्क्सवादियों की 'बाइबिल' 'केपिटल' (अंग्रेजी संस्करण) के भूमिकाकार लिखते हैं कि "Marx does not say, as some have represented him as saying that men act only from economic motives" (मनुष्य आर्थिक उद्देश्य को लेकर ही विकास करता है, यह मार्क्स कहीं नहीं

कहता)। उसने तो मानव उद्देश्यों की चर्चा ही नहीं की।

मार्क्सवादियों को अपने 'वाद' के एकाङ्गीपन का जब अनुभव हुआ तो वे उसका क्रमशः स्पष्टीकरण करने लगे। एंजिल ने अपने एक मित्र के पत्र में लिखा है—Marx and I are partly responsible for the fact that at times our desciples have laid more weight upon the economic factor than belongs to it" (हमारे अनुयायियों ने आर्थिक तत्त्व को आवश्यकता से अधिक महत्त्व दिया है और इसके लिए मैं और मार्क्स ही जिम्मेदार हैं)।

"बाह्यकारणों के विद्यमान होते हुए भी हर देश और काल में 'क्रांति' क्यों नहीं मच जाती?" की ओर जब मार्क्सवादियों का ध्यान गया, तो उन्हें अपने तत्त्वों की एकांगिता और भी अखर उठी। तब उन्होंने बाहर से ज़रा भीतर देखना प्रारम्भ किया, और इसके लिए उन्होंने 'फ्राइड' का सहारा लिया। मार्क्सवाद में 'फ्राइड' का प्रवेश उसके दायरे की वृद्धि के लिए ही किया गया। ओसबोर्न ने कहा भी है कि यदि 'मार्क्सवाद' की एकाङ्गिता नष्ट करनी है, तो फ्राइड के मानस तत्त्वों को हमें अपनाना होगा!" फ्राइड का मत है समाज-भय से जो वासनायें अतृप्त रहती हैं वे अन्तर्मन पर छाई रहती हैं और वे ही अनेक रूप धारण कर स्वप्न में प्रकट होती हैं। जब वासनायें असह्य हो उठती हैं, तब मन में अनेक विकृतियाँ पैदा हो जाती हैं। इसलिए व्यक्ति का यदि समुचित विकास अभीष्ट हो, तो उसकी वासनाओं की प्यास बढ़ने नहीं देना चाहिए। फ्राइड ने काम-प्रेरणा पर ही जोर दिया है। फ्राइड को यद्यपि मार्क्सवादियों ने आत्मसात कर लिया है और इस तरह लजाकर ज़रा अन्तर्मुख होने का प्रयास किया है परन्तु 'फ्राइड' की अनुसन्धान दिशा भी अपूर्ण है; उसने मन की विकृतियों का विश्लेषण तो किया है परन्तु उसमें भी एकाङ्गी-

पन का दोष आ गया है। स्त्री-पुरुष के आकर्षण में लैङ्गिक विरोध ही कारणीभूत होता है, यह सर्वमान्य सिद्धांत नहीं है। प्रत्येक पुरुष प्रत्येक स्त्री की ओर काम-वासना की तीव्रता से ही खिंचता है, यह पुत्र-माता, भाई बहिन आदि के हृदयों में बहने वाले अगाध प्रेम की निर्मलता स्वीकार नहीं करता। फ्राइडवाद विकृत (morbid) मन के स्त्री-पुरुषों के सम्बन्ध में सम्भवतः लागू हो सकता है; स्वस्थ और ध्येयवादी मन का विश्लेषण फ्राइड ने यदि किया होता तो वह संत और साध्वियों की उन अनुभूतियों का कारण ढूँढ़ सकता था—जो अपने ही में भूल रहते, खिंचे रहते थे।

"गगन गरजि बरसै अमी, बादर गहिर गँभीर'
चहुँ दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर।"

'मीरा' अपने किस स्थूल 'पुरुष' के लिए पागल हो कहती थी—"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई"! वासना-विहीन-प्रेम को 'प्लेटोनिक लव' कहते हैं, जिसमें स्त्री-पुरुष का सम्बन्ध लैङ्गिक आकर्षण से शून्य रहता है। पर 'मीरा' का प्रेमाधार तो प्रकृत पुरुष भी नहीं है। उसने तो प्लेटो के शब्दों में 'प्रेम की उस भूमिका में प्रवेश किया था—जहाँ विरहाकुल आत्मा शाश्वत सौन्दर्य प्रकाश में लीन हो जाती है।"

फ्राइड ने रोगी-मन का विश्लेषण कर जो मनोविज्ञान के तथ्य प्रस्तुत किए, उनसे आत्मप्रेरणा, आत्मानुभव तथा आत्मसाक्षात्कार की गुत्थियाँ नहीं हल होतीं। यदि फ्राइड के तत्वों को मान लिया जाय, तो हमारा सारा 'सन्त-साहित्य' केवल 'बुद्धि की कसरत' ही रह जाता है; पार्थिव सम्बन्ध के अतिरिक्त भी हमारी एक आकांक्षा है—हमारे मन के अन्तरतम से बद्ध एक सूत्र है जो अदृश्य होते हुए भी हमें खींचता है। हम बाह्य द्वन्द्व-सङ्घर्ष से ऊब थक कर उससे हटना चाहते हैं; क्षण भर अपने में ही खो जाना चाहते हैं। कभी कभी

भौतिक सुखों के बीच भी, रह रहकर भीतर से अज्ञात टीस सी जगने लगती है। रवि बाबू के शब्दों में—"विरह-रोदन रह रहकर कानों में प्रविष्ट होने लगता है।" इस तरह मनुष्य का भौतिक और आध्यात्मिक (बाहरी और भीतरी) दो प्रकार का जीवन स्पष्ट है। हमारी संस्कृति मनुष्य के एक मात्र भौतिक जीवन की कल्पना कर ही नहीं सकती। योरप में भी विचारक अब कहने लगे हैं कि "युद्ध-पश्चात् का योरप चाहे जो रूप धारण करे, पर सच्चा परिवर्तन तभी संभव होगा जब हम आध्यात्मिक तत्त्वों को अपना लेंगे।"

यहाँ एक प्रश्न और विचारणीय है। वह यह कि क्या 'मार्क्स' ने 'साहित्य-कला' पर कोई विवेचना की है ? नहीं कम्यूनिस्ट मेनी-फेस्टो (साम्यवादी विज्ञप्ति में केवल यही कहा गया है कि "आज-तक जो धंधे प्रतिष्ठित समझे जाते थे; जिनका आदरमय आतङ्क से उल्लेख किया जाता था, उन्हें 'बुर्जुआ वर्ग' ने भी हीन बना दिया है। डॉक्टर, वकील, धर्माचार्य, कवि और वैज्ञानिक उसके इशारे पर नाचने वाले 'भाड़ैत' (मजदूर) बने हुए हैं।" बुद्धि-जीवियों पर एक व्यंग मात्र किया था और उस समय क्रांति को सफल बनाने के लिए उसे ऐसे प्रचार-साहित्य की आवश्यकता भी थी, जिसमें शोषक-सम्प्रदाय को हतप्रभ बनाया जाय। उसके इस 'चकोटे' ने काम ज़रूर किया पर उससे जो साहित्य निर्मित हुआ वह अधिकांश प्रचार श्रेणी का ही रहा। इसका आभास ट्राट्स्की के इन शब्दों में मिल जाता है—"साहित्यकार श्रमजीवी संस्कृति, श्रमजीवी कला की पुकार तो मचाते हैं पर उनकी दस बातों में से तीन बातें विवेक रहित होकर भावी (?) साम्यवादी जीवन की कला और संस्कृति की ओर निर्देश करती हैं; दो बातें भिन्न (?) श्रमजीवन और श्रमजीवियों की विशेषताओं को इङ्गित करती हैं और शेष पाँच उन तत्वों की ओर इशारा करती हैं जिनका कोई अर्थ ही नहीं होता।"

इसीलिए उसने चिढ़कर यह भी कहा कि—यह सत्य नहीं है कि हम अपने कवियों को सदा फैक्टरियों की चिमनियों या बुर्जुआ-वर्ग-विद्रोह के गीत ही गाने को कहते हैं। हम उसे ही प्रगतिशील नहीं मानते, जो श्रम-जीवियों का राग अलापता है।"

इस तरह हम देखते हैं, मार्क्सवादी साहित्य की धारणाओं में भी 'प्रगति' हो रही है; अतः मार्क्स के मूल तत्वों को ही अपना आदर्श मानकर रचा जानेवाला साहित्य रूढ़िवादी ही समझा जायगा। आज तो प्रगतिशील कहलानेवाला साहित्यिक 'मार्क्सवादी' बनने के कारण विश्व के शरीर को ही देखना चाहता है; आत्मा को नहीं। इसी से उसका साहित्य वर्णन-प्रधान रहता है। 'वस्तु' और 'घटना' का यथार्थ वर्णन भी कला का एक अंग है। हमारे बहुत कम साहित्यिकों को यह कला साध्य हुई है। वे कुछ देखते, कुछ सुनते और कुछ की कल्पना कर वस्तु या घटना को खींचने का प्रयत्न करते हैं। वे जिस स्थिति का खाका उतारना चाहते हैं, उसमें वे अपने को भली भाँति रख नहीं पाते। मज़दूरों व किसानों का जीवन इन्होंने बाहरी और भीतरी आँखों से नहीं देखा। उनकी स्थिति हमें बर्नार्डशा के 'मैन एण्ड सुपरमैन' के मेंडोज़ा-सी लगती है, जो समय की 'हवा' समझकर ही अपने को 'साम्यवादी' कहलाना चाहता है। ऐसे लेखकों की रचनाओं में वास्तविकता, यथार्थता की खोज करना कठिन ही है। यह तो स्पष्ट ही है कि लेखकों में अधिकांश मध्यम-श्रेणी का प्रतिनिधित्व रखते हैं। अतः उन्हें निम्नश्रेणी की समस्याओं का बहुत कुछ अपनी सभ्यता और स्थिति से ही चित्रण करना पड़ता है। ऐसा चित्रण किस हद तक सफल होता है, इसकी आलोचना 'लन्दन मर्क्यूरी' में एक शोषित-वर्गीय लेखक 'विलियम नहल' ने इन शब्दों में की है—

"What have this tribe of middle-class lawyers, persons and scribes to tell me about my class?

How can they possibly know what life looks like to us. ...... The truth is that ...... it requires very powerful faculties of imagination indeed, to portray accurately and with any degree of fulness, characters that breathe out of his own little social tradition."

(ये मध्यम श्रेणी के वकील, पादरी और लेखक मेरे समाज के विषय में क्या कह सकते हैं ? हमें जीवन का कैसा अनुभव हो रहा है, इसे ये क्या जानेंगे ? सच तो यह है कि अपने समाज की सीमित परम्परा के बाहर अन्य वर्ग के ठीक ठीक हूबहू चित्रण के लिए बड़ी भारी कल्पना शक्ति की आवश्यकता पड़ती है ।)

हमारे लेखक बन्द कमरों में बैठकर युद्ध-क्षेत्र की विभीषिका का चित्र उतारने का प्रयत्न करते हैं । उनके प्रयत्न में कल्पना की उड़ान मिल सकती है । परन्तु उस क्षेत्र का चित्र कैसे दिख सकता है, जिसे उनकी आँखों ने कभी देखा हो नहीं । तभी उनके यथार्थ कहे गये वर्णन निर्जीव रहते हैं ! रूसी लेखकों के विषयों को अपना बना लेना आसान है, पर उन विषयों में अपनापन भरना आसान नहीं है । क्योंकि रूसी लेखकों ने अपनी आँखों से किसान-मज़दूरों की क्रांति देखी और उसके परिणामों को अनुभव किया था । हमें उस समय सचमुच बड़ी हँसी आती है, जब हम अपने कवियों के 'कृषक और मज़दूरों के 'विजय-गीत' पढ़ते हैं । अभी तो उनका संघर्ष प्रारम्भ ही नहीं हुआ, उन्हें यह भी भान नहीं है कि साम्यवाद क्या बला है । क्रांति उनके रक्त और प्राण-दान से अपनी प्यास बुझा भी नहीं पाई और कवियों ने उनके मुख में विजय के गीत भर दिए !! क्या यही उनका वास्तव-वाद है ? सच्चा रूसी लेखक क्या करता है, इसे वी० किरपोटीन के शब्दों में पढ़िए—

"Soviet literature is unusually thirsty for

life, it ceaselessly watches life and learns from life. The best Soviet writers would be ashamed to write on a theme that was not of a social character or on a theme that they had not studied. This knowledge of life is often achieved through a direct participation in it in the life of the factory, the construction and the collective farms."

(सोवियट-साहित्य जीवन के लिए अत्यधिक प्यासा रहता है, वह लगातार जीवन का निरीक्षण करता और जीवन से ही सीखता है। श्रेष्ठ लेखक समाज के अतिरिक्त अन्य किसी विषय पर या ऐसे विषयों पर जिसका उसने स्वयं अध्ययन नहीं किया, लिखने में लजायेगा। जीवन का ज्ञान स्वयं अनुभव लेकर प्राप्त किया जाता है—कारखानों और खेतों में काम करके।)

जहाँ स्वयं अनुभूति नहीं है—कोरी कल्पना या भावुकता है, वहाँ यह कहा जा सकता है कि मार्क्स-दर्शन की हत्या है, यथार्थवाद का अभाव है !

योरप में कई समाजवादी यथार्थ-दर्शी लेखकों ने अपने ध्येय की खोज में युद्ध के मैदानों में अपने प्राणों तक की आहुति दे डाली है—किसान और मज़दूरों के साथ समरस होना उनके लिए साधारण बात रही है ! तभी उनके लेखन में कोरी चित्रात्मकता नहीं, अनुभूति-मय स्फुलिङ्ग भी धधक रहे हैं। अभिव्यञ्जनावादी कह सकते हैं कि 'चित्रात्मकता' भी कला का 'सुन्दरम्' है पर 'कला' का 'सुन्दरम्' जीवन के 'सत्यम्' के अभाव में 'शिवम्' कैसे बन सकेगा ! 'आनन्द'—रस का संचार कैसे कर सकेगा !

यह कहा जा सकता है कि हम 'आज' से आँखें बन्द कर स्थिर

नहीं रह सकते। समाज में जो राजनीतिक चेतनता का नयनोन्मीलन हो रहा है, उसकी ओर हमारा खिंचना स्वाभाविक है। पर प्रश्न यह है कि जिस 'चेतना' का चित्र कवि अपनी रचनाओं में खींच रहे हैं, उसमें 'सत्यता' है या केवल अभिनय-मात्र है? हमारे देश में तो रूसी कृषक-मजदूर-वर्ग की मनो-भूमिका ही निर्मित नहीं हो पाई है। जो 'गीत' उनके नाम पर गाये जाते हैं, वे गायक की बुद्धि की ही सृष्टि होते हैं। कृषक की आत्मा उनके साथ समरस नहीं हो पाती। क्योंकि वह उसकी चीज नहीं है। राजनीति के रह-रह परिवर्तित होनेवाली लहरों के साथ कविता की गति कैसे बाँधी जा सकती है? कविता प्रचार का साधन-मात्र नहीं बन सकती। रूस में समाज और राजनीति के सिद्धान्त प्रयोगावस्था में ही रहे हैं। आज वहाँ तो साम्यवादी महान् अन्तर्राष्ट्रीय तृतीय संस्था (Third International) को ही भङ्ग कर दिया गया है और पारिवारिक प्रथा को पुनः जीवन-दान दिया जा रहा है। धर्म का 'ईश्वर' भी गिरजों में मुसकुराने लगा है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वहाँ भी जनता के हृदय ने कतिपय बुद्धिवादियों के समाज, धर्म और राजनीति के तत्वों को ग्रहण नहीं किया था। अतः यह भी कहा जा सकता है कि वहाँ के 'साम्यवादी' साहित्य में राष्ट्र या जातीयता की आत्मा का स्वर नहीं था; वह व्यक्ति विशेषों (रचयिताओं) की बुद्धि का कौशल मात्र था; अधिक से अधिक भावी युग का स्वप्न था। पच्चीस-तीस वर्षों के पश्चात् जब रूसी तरुण की आँखें कथित 'प्रगतिवादी' साहित्य पर दौड़ेंगी, तब वह उसके विनोद की चीज़ ही होगा। उसका महत्व प्रचार-पत्रों से अधिक नहीं रह जायगा। काव्य, घटनाओं का इतिहास नहीं; जातीय मनोवृत्तियों का प्रतिबिम्ब होता है। राजनीति काव्य को प्रचार का वाहन बना कर तो स्वयं 'प्रगति' कर लेती है पर 'काव्य' की अगति (दुर्गति ?) ही हो जाती है। 'समय'

साहित्य में झाँकता अवश्य है, पर वह अपना आन्तरिक स्पन्दन लेकर ही उसमें आता है, विशेषतः काव्य में तो वह व्यापक-सामान्य-मनोभावों के साथ ही तरङ्गित होता है।

'प्रसाद' प्रधानतः अन्तर्वृत्ति निरूपक कवि हैं। वे अपने भीतर स्वयं को तथा वस्तु-जगत को भी देखते हैं। 'समय' को सर्वसाधारण-व्यापक-चेतनाओं के प्रति वे सजग हो उठते हैं। उनकी कृतियों में युग-धर्म में उच्छ्वसित होनेवाली 'प्रगतिशीलता' के दर्शन होते हैं। उन्होंने मानव और मानवता के प्रति अपने राग को प्रदर्शित किया है और मानववाद इस युग की आतुर पुकार है। मैक्सिम गोर्की ने कहा है—"मनुष्य गौरव से भरा हुआ एक शब्द है।" वाल्टर ह्विटमैन के शब्द हैं—"मैं अपनी जाति पर बलि जाता हूँ।" एक स्थल पर वह यह भी लिखता है—

"To be surrounded by beautiful, curious beings, laughing flesh, is enough. I do not ask any more delight. I swim in it as in a sea. There is something in staying close to men and women and working in them and in contact and odour of them, that pleases the soul well."

(स्त्री-पुरुषों के सम्पर्क में रहना मुझे बहुत अच्छा लगता है; उसके सान्निध्य तथा सुरभि से मैं मस्त हो जाता हूँ—मेरी आत्मा खिल उठती है।) कीट्स भी इसी भाव-प्रवाह में बहे हैं—"A thing of beauty is joy for ever" (सुन्दर वस्तु सतत आह्लाद की वर्षा करती रहती है।)

मानव-राग और मानवता की प्रवृत्ति का अर्थ हो सकता है—

(१) स्त्री-पुरुष के प्रति प्रेम-भाव (व्यष्टि-प्रेम)

(२) मनुष्य जाति के प्रति समानता की दृष्टि (समष्टि-प्रेम)

(३) नरेतर प्राणियों के प्रति कोमलता की भावना।

(४) अप्रकृत रूढ़ियों के प्रति अनास्था।

स्त्री-पुरुष के प्रति प्रेम-भाव (व्यष्टि-प्रेम)

'प्रसाद' ने ह्विट्मैन के समान 'स्थूल' पर आसक्ति तो प्रदर्शित की है, पर उसका वहीं पर्यावसान नहीं हो गया है। उनका प्रेम 'सीमा' में पहुँच कर वहीं बँध और छटपटा कर समाप्त नहीं हो गया। * वह 'परिरम्भ-कुम्भ' की मदिरा पीना चाहता है, निःश्वास मलय के झोंके खाना चाहता है, मुख-चन्द्र चाँदनी-जल से अपना मुँह धोना चाहता है,† और अपने 'आश्रय' के साथ परम सौन्दर्य के दर्शन कर 'आनन्द' की अजस्र वर्षा में भीग कर सिहर भी उठना चाहता है।

---

* "इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रान्त-भवन में टिक रहना।
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं ?" प्रेम-पथिक

†(१) "परिरम्भ कुम्भ की मदिरा, निःश्वास मलय के झोंके।
मुखचन्द्र चाँदनी-जल से मैं उठता था मुँह धोके।" आँसू

(२) 'स्थूल' के प्रति आसक्ति का उच्छ्वास निम्न-पंक्तियों से निःसृत हो रहा है—

"जिसे चाह तू उसे न कर आँखों से कुछ भी दूर।
मिला रहे मन, मन से, छाती, छाती से भरपूर।" झरना

और भी—

"निभृत था—पर हम दोनों थे, वृत्तियाँ रह न सकीं फिर शान्त।
कहा जब व्याकुल हो उनसे—'मिलेगा कब ऐसा एकान्त ?
हाथ में हाथ लिया मैंने, हुए वे सहसा शिथिल नितान्त।
मलय ताड़ित किसलय कोमल, हिल उठी उँगली, देखा, भ्रान्त॥" झरना

'प्रसाद' मानसिक प्रेम (Spiritual love) को आदर्श मानते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से 'स्थूल' के प्रति आकर्षण और सम्पर्क का विरोध नहीं करते। 'आँसू' में सम्भोग-शृंगार के चित्र बड़े स्पष्ट हैं।

विशुद्ध मानवी आसक्ति को 'परम-प्रेम' में ढाल लेने की वृत्ति कवि के स्तर को बहुत ऊँचा उठा देती है।

कामायनी में स्त्री-पुरुष के प्रेम के दृष्टिकोणों की अच्छी व्याख्या मिलती है। 'स्त्री' का प्रेम निर्बन्ध होता है, वह तो 'दान' करना ही जानती है; प्रतिकार के लिए उसकी छटपटाहट उसे अशान्त नहीं बनाती। स्त्री एक बार किसी से प्रेम करने के बाद प्रिय के अनुकूल न सिद्ध होने पर भी—उसके क्षुब्ध करने पर भी—सतत उसी की ओर खिंचती रहती है।* 'श्रद्धा' मनु की हिंसावृत्ति से क्षुब्ध हो जाती है—

"कितना दुःख जिसे मैं चाहूँ, वह कुछ और बना हो।
मेरा मानस चित्र खींचना, सुन्दर सा सपना हो।"

फिर भी जब मनु उसकी आँखों के सामने आजाता है, तो वह अन्तरतम की प्यास को अपने ही विषाद के 'पानी' से बुझाने को नहीं ठहरती; उसमें अपने को खो देती है। कुछ क्षण पूर्व ही मन के पर्दे पर दौड़ पड़ने वाले ये विचार न जाने कहाँ लोप हो जाते हैं—

"स्खलन चेतना के कौशल का, भूल जिसे कहते हैं।
एक बिंदु, जिसमें विषाद के, नद उमड़े रहते हैं।
आह, वही अपराध, जगत की दुर्बलता की माया।
धरणी की वर्जित मादकता, संचित तम की छाया।"

नारी के त्याग का—आत्म-समर्पण का कामायनी की 'श्रद्धा' उज्ज्वल प्रतीक है। मनु (पुरुष) उससे रूठकर अपने मन की तृषा में उलझाना चाहता है, फिर भी श्रद्धा उसकी 'सेवा' और उसके

---

* प्रिय को ठुकरा कर भी मन की, माया उलझा लेती।
प्रणय-शिला प्रत्यावर्तन में, उसको लौटा देती।

कामायनी

'दर्शन' को व्यग्र हो जाती है और अन्त में उसे जीवन के चरम लक्ष्य की ओर ले जाकर ही संतुष्ट होती है। अपने 'प्रिय' की कल्याण-साधना में नारी अपने वैभव और 'सुहाग'-सुख तक की खुशी-खुशी बलि चढ़ा देती है। मनु केवल अपना ही चित्र श्रद्धा की 'पुतली' में देखना चाहता था। उसे श्रद्धा की प्रेम-भावना का उसी के पुत्र में विकीर्ण होना भी सह्य नहीं हुआ। उसने गर्भस्थ शिशु के प्रति-श्रद्धा के उद्‌गीर्ण भावों को सुनकर ही उसका त्याग कर दिया। अतएव श्रद्धा ने भी जब दुबारा मनु से भेंट की, तो अपने 'कुमार' का ही पहले उसने त्याग किया। मनु को यह बात अखरी भी पर वह तो सब कुछ खोकर भी, मनु को पाना चाहती थी। बिना एक उसास, एक आँसू के वह मनु के साथ जीवन के विस्तृत पथ पर चल पड़ती है। तभी तो श्रद्धा कहती है—

"मैं दुख को सुख कर लेती हूँ।"

....

अनुराग भरी हूँ मधुर घोल।"

'श्रद्धा' में भारतीय नारी के उत्सर्गमय प्रेम का अत्यन्त मोहक रूप झलक रहा है।

पुरुष के प्रेम का प्रतीक 'कामायनी' का मनु समझा जा सकता है पर उसके राग में निर्मलता नहीं है, ऊषा सी पवित्र लालिमा नहीं है, वह सीमित है अपनी ही मनोवृत्तियों के उलझन भरे काँटों से। पुरुष-सौन्दर्य पर रीझता है; गुणों की ओर आकर्षित होता है, पर अपने अस्तित्व को प्रतिदान पाकर ही मिटाना चाहता है; 'नारी' प्रेम करने के बाद तर्क-वितर्क ही नहीं अपने अस्तित्व को ही विस्मृत कर देती है। पुरुष अपनी प्रेमिका की आँखों में अपना ही चित्र, मन में अपना ही ध्यान और हृदय में अपना ही स्पन्दन चाहता है! तभी वह अपने मानस-

मुकुर में उसे प्रतिबिम्बित रख सकता है ।* 'प्रसाद' का 'पुरुष' अपने प्रिय के प्रेम को इतना अधिक सीमित कर देना चाहता है कि उसकी माया का उसके 'पुत्र' की ओर झुकना भी उसमें 'द्विविधा' का विष घोल देता है ।

'श्रद्धा' जब अपने भावी पुत्र के बाल-विनोद की कल्पना कर उमग उठती है—

"मेरी आँखों का सब पानी, तब बन जायेगा अमृत स्निग्ध ।
उन निर्विकार नयनों में जब, देखूँगी अपना चित्र मुग्ध ।"

तब 'मनु' की ईर्ष्या अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाती है । वह कहता है—

"यह जलन नहीं सह सकता मैं,
चाहिये मुझे मेरा ममत्व;
इस पञ्चभूत की रचना में,
मैं रमण करूँगा बन एक तत्व ।
यह द्वैत, अरे यह द्विविधा तो,
है प्रेम बाँटने का प्रकार ।
भिक्षुक मैं ना, यह कभी नहीं,
मैं लौटा लूँगा निज विचार ।"

'प्रसाद' ने पुरुष की ईर्ष्या का जो स्वरूप उक्त पंक्तियों में खींचा है उसे 'सामान्य' कहने को जी नहीं चाहता । पुरुष को प्रेम का वितरीकरण सह्य नहीं, माना । पर प्रेम के जिस स्वरूप को श्रद्धा बाँटना चाहती थी, वह तो मनु की आसक्ति का न था, वह अपनी आँखों की

---

* "काली आँखों की (?) तारा में, मैं देखूँ अपना चित्र धन्य ।
मेरा (?) मानस का मुकुर रहे, प्रतिबिम्बित तुमसे ही अनन्य ।"
"केवल मेरी ही चिन्ता का, तव चित्त वहन कर रहे भार ।"
—कामायनी

पुतली ... मनु के पुत्र का चित्र जिसे मनु की छाया ही कहा जा... है उतारना चाहती थी। श्रद्धा की आँखें यदि किसी ऐसे व्यक्ति जमतीं जिसमें 'स्खलित' यौवन-भावना के मधु 'बुन्दों' का प्रमाद होता, तो 'मनु' की ईर्ष्या यदि साक्षात् अग्नि बनकर भी श्रद्धा को भस्म कर डालती, तो हमें उसमें लेशमात्र भी अस्वाभाविकता न दीख पड़ती; उसमें हम पुरुष की एकान्त भावना के अतिरेक का आघात कारणीभूत देख सकते थे। पर श्रद्धा के "वात्सल्य" के प्रति मनु की ईर्ष्या का पतित प्रदर्शन अप्रासादिक प्रतीत होता है। "प्रेम गली अति साँकरी तामें दो न समायँ"; उसी दशा में ईर्ष्या का कारण बन सकती है, जब उसमें समान भाव के 'दो' प्रविष्ट होना चाहते हों। इतना ही नहीं, 'प्रसाद' का पुरुष तो अपनी प्रेयसी का ध्यान 'पशु' की ओर खिंचते देखकर भी ईर्ष्या से सुलगने लगता है।

कवि ने पुरुष को प्रेम में अनुदार, ईर्ष्यालु, असंयत और स्वार्थान्ध चित्रित किया है। उसमें नारी के अनुराग के समान निर्मलता, त्याग, व्यापकता और कर्तव्य-सजगता नहीं देखी। तभी उन्होंने पुरुष से उसकी 'चेतना' का 'नारी' के चरणों में समर्पण कराया है—

"आज ले लो 'चेतना' का यह समर्पण दान।
विश्वरानी! सुन्दरी नारी! जगत की मान।"

प्रसाद ने व्यक्ति प्रेम में उत्सर्ग-त्याग की महत्ता मानते हुए भी शारीरी सम्बन्ध की तनिक भी उपेक्षा नहीं की है—एन्द्रिकता को स्वाभाविक मानकर ही वे चले हैं।

"और एक फिर व्याकुल चुम्बन, रक्त खौलता जिससे
शीतल प्राण धधक उठता है, तृषा तृप्ति के मिस से।"

कामायनी

जब 'यौवन के माधवी-कुंज' में कोकिल बोल उठती है, अपने

भाव हृदय शिथिल हो जाता है और तब 'लाज के बन्धन' अनजाने ही खुल जाते हैं—'विह्वल' भरी चाँदनी रात अपने 'कम्पित अधर' से बहकाने की बात ही तो करती है! यौवन में आँखों की 'प्यास' और अनुभूतिजन्य तड़पन के प्रति कवि निष्ठुर नहीं हुए। उन्होंने 'शील' और 'मन' दोनों के खेलों में उल्लास अनुभव किया है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक फ्रायड कहता है कि मनोविकारों का दमन अस्वास्थ्यकर है। मानस और शारीरी सन्तुलन के लिए उनका एकबारगी विस्फोट हो जाना आवश्यक है। व्यक्ति-प्रेम में 'प्रसाद' का भी प्रायः यही विश्वास बोलता है पर वे प्रेम का आदि और अन्त ऐन्द्रिकता नहीं मानते। उनका प्रेम 'अश्रुत रेखा' के 'काले पानी' की सजा काट कर निष्पाप बन जाता है और तब उसे जो दिखाई देने पर भी नहीं दीख पड़ता, धड़कनों में छिपकर भी जो दूर समझ पड़ता है; खोजने के लिये 'प्रकट पथ' में टकराने को दौड़ जाता है। वह 'यहाँ' नहीं ठहरना चाहता :—

"यह क्या श्रद्धे! बस तू ले चल,
उन चरणों तक दे निज सम्बल।
सब पाप पुण्य जिसमें जल-जल
पावन बन जाते हैं निर्मल;
मिटते असत्य से ज्ञान लेश,
समरस अखण्ड आनन्द वेश।"

कामायनी

प्रगतिवादियों के साम्प्रदायिक मत से 'प्रसाद' का यहीं, विरोध ठहर जाता है। वे भौतिकता को ही सब कुछ मानते हैं, ये 'भौतिकता' का मान करते हुए भी उससे परे के 'रहस्य' को सब कुछ मानते हैं। यही उनकी 'समरसता' है।

समष्टि प्रेम में आधुनिकता

'प्रसाद' का कवि व्यक्ति प्रेम में 'वल्लरियों' के बीच मधु की प्यास भरकर ही उलझ नहीं गया है वह अपने लोक-पक्ष में भी विश्व-व्यापी सहानुभूति-बिखेरता दीख पड़ता है।

"फिर उन निराश नयनों की, जिनके आँसू सूखे हैं।
उस प्रलय दशा को देखा, जो चिर वञ्चित भूखे हैं।"

आँसू

'प्रगतिवादियों' के समान वे भी 'दीन दुखियों' के प्रति अपनी भावना उँड़ेलते हैं—

दीन दुखियों को देख आतुर अधीर अति,
करुणा के साथ उनके भी कभी रोते चलो।"

झरना

सुख अधिकार और धन के केन्द्रीकरण के प्रति भी उनका स्वरोद्-घोष सुन पड़ता है।

"अपने में सब कुछ भर कैसे व्यक्ति विकास करेगा?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है, अपना नाश करेगा!
औरों को हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो, सबको सुखी बनाओ।"

कामायनी

क्योंकि जो 'अपने में सुख को सीमित' कर लेता है वह दूसरों के लिए केवल दुःख ही तो छोड़ सकता है। इसीलिए कवि का प्रश्न है—

"इतर प्राणियों की पीड़ा लख, अपना मुँह मोड़ोगे?"

जो अपने 'धन' को अपने ही उपयोग के लिए बटोर रखते हैं उनके अस्तित्व का कवि अन्त ही चाहते हैं—

'ये मुद्रित कलियाँ दल में, सब सौरभ बन्दी कर लें,
सरस न हो मकरंद बिन्दु से, खुल कर तो ये मर लें।'

कामायनी

कवि का 'Live and let live' (स्वयं जीवित रहो और दूसरों को भी जीने दो) में अटूट विश्वास रहा है—

'क्यों इतना आतङ्क ठहर जाओ गर्वीले !
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले ।"

कामायनी

'प्रसाद' की यही 'समरसता' है जिसे पाने के लिए उनकी आत्मा विह्वल होती रही है ।

नरेतर प्राणियों के प्रति कोमलता की भावना

'प्रसाद' का हृदय कोमल भावनाओं से ही स्पन्दित होता रहा है। उसमें पशु-पक्षियों के प्रति भी सहानुभूति उमड़ी है। 'स्कन्दगुप्त', जन्मेजय का नाग यज्ञ', 'कामायनी' आदि में उन्होंने पशु-हिंसा की तीव्रतम भर्त्सना की है। कामायनी में तो श्रद्धा और मनु के प्रेम में 'पशु-हिंसा' ही 'सन्देह' और 'अवसाद' की सृष्टि करती है। जब 'श्रद्धा' मनु की 'हिंसा-वृत्ति' को देखती है, तो इतनी अधिक खिन्न हो उठती है कि वह अपने को ही कोसने लगती है, अपने हृदय के उस सम्मान पर झुँझला उठती है, जो 'मनु' के चरणों में आत्म-समर्पण करने को व्याकुल हो उठी थी। उसके इन शब्दों में कितनी मार्मिक व्यथा सिसक रही है—

"कितना दुःख जिसे मैं चाहूँ, वह कुछ और बना हो।
मेरा मानस चित्र खींचना सुन्दर सा सपना हो।"

अप्रकृत रूढ़ियों के प्रति अनास्था

रूढ़ियों में बँधे रहते हुए भी 'प्रसाद' के कवि ने उनकी आस्था नहीं की। वे कहते हैं:—

पुरातनता का यह निर्मोक,
सहन करती न प्रकृति पल एक ।

नित्य नूतनता का आनंद,
किये है परिवर्तन में टेक।

वे टेनीसन के

'Old order changeth,
Yielding place to new'k
Last good custom
should corrupt the world.'

में विश्वास करते थे। धर्माडम्बर से उन्हें विद्रोह था, उनका विश्वास था कि यदि हम किसी दीन-दुःखी पर क्षण भर भी दया दिखायें, तो वह घंटों प्रार्थना से अधिक फलप्रद होगी। 'झरना' में हम पढ़ते हैं—

"प्रार्थना और तपस्या क्यों ?
पुजारी किसकी है यह भक्ति।
डरा है तू निज पापों से
इसी से करता निज अपमान।
दुखी पर करुणा क्षण भर हो
प्रार्थना पहरों के बदले।
मुझे विश्वास है कि वह सत्य
करेगा आकर तव सम्मान।"

एक स्थल पर आपके वर्ण-व्यवस्था के विचारों की भी प्रतिध्वनि सुन पड़ती है—

"वर्णभेद सामाजिक जीवन का क्रियात्मक विभाग है। यह जनता के कल्याण के लिए बना, परंतु द्वेष की सृष्टि में, दम्भ का मिथ्या गर्व उत्पन्न करने में, यह अधिक सहायक हुआ है। जिस कल्याण बुद्धि से इसका आरम्भ हुआ वह न रहा; गुण-कर्मानुसार वर्णों की स्थिति नष्ट होकर, अभिजात्य के अभिमान में परिणत हो गई।"

'प्रसाद' को इसीलिए बौद्धदर्शन से अभिरुचि थी कि वह 'बुद्धिवाद' पर आश्रित है परन्तु वह एकदम ही 'बुद्धिवादी' नहीं हैं; उनमें 'श्रद्धा' का योग भी रहता है। उनकी अज्ञात शक्ति पर भी श्रद्धा है। उनका प्रातिभ ज्ञान (Intuition) उनमें यह विश्वास भरता है कि क्षितिज के परे ऐसी अनेक रहस्यमय वस्तुएँ हैं जिनको यह जगत स्वप्न भी नहीं देख सकता। उनकी आत्मा 'हिमकन-बालिका' के समान उस परमात्म-सागर में मिलने को अपने आप ही व्याकुल हो उठती है जिसे उसने केवल 'स्वप्नावस्था' में—'हाल-दशा' में—ही देखा था —

"देवलोक की अमृत कथा की माया
छोड़ हरित कानन की आलस-छाया—
विश्राम माँगती अपना
जिसका देखा था सपना।"

लहर

तात्पर्य यह कि 'प्रसाद' बुद्धिवादी होते हुए भी आन्तरिक सम्वेदना पर अविश्वास नहीं करते थे। 'कामायनी' में उन्होंने बुद्धि और हृदय के सामञ्जस्य को ही साधु बतलाया है। 'प्रगतिवादी' आज केवल बुद्धि की सत्ता ही मानता है, प्रातिभ ज्ञान (Intuition) उसके 'कोष' में नहीं है।

'प्रसाद' का नियतिवाद

'प्रसाद' को बुद्धिवादी मानते हुए भी हम उन्हें 'नियति' में आस्था रखते हुए पाते हैं और संभवतः बुद्धिवादी होने के कारण ही उन्होंने अपने जीवन संघर्षों का यह परिणाम निकाला है कि मनुष्य 'नियति' की डोरी पर ही झूलता है, उसकी सारी चेष्टाएँ, 'अभिलाष' को अपने निकटतम अनुभव करने के सारे प्रयत्न तभी सफल होते हैं, जब 'नियति' की भौहों के बल खुलते हैं; जब 'भाग्य रेखा' मुस्कुराती है। वे कहते हैं—

'नियति' शब्द 'शैव'-दर्शन में भी आया है। शैवागमों में तत्त्वों की संख्या ३६ मानी गई है। उन्हीं में एक तत्त्व 'नियति' है जो 'जीव' की स्वातंत्र्य शक्ति का तिरस्कार करनेवाला है। उसे माया की संतति माना गया है और माया को शिव की कार्य शक्ति। 'प्रसाद' कहते हैं—

"कौन उठा सकता है धुँधला पट भविष्य का जीवन में।"
"जिस मंदिर में देख रहे हो जलता रहता है कर्पूर।
कौन बता सकता है उसमें तेल न जलने पायेगा!"

प्रेम-पथिक

'कामायनी' में 'श्रद्धा' और 'मनु' रहस्यमय पथ पर चले जा रहे हैं। मनु के मन में आनन्द की लहरें उठ रही हैं। सहसा फिर कोई मानों उन्हें भीतर भीतर ही संशय से भर देता है—'नियति'-की संदिग्ध छाया-सी देखकर वे सहम उठते हैं—

"निराधार हैं, किन्तु ठहरना
हम दोनों को आज यहीं है।
नयति खेल देखूँ न, सुनो अब
इसका अन्य उपाय नहीं है।"

'प्रसाद' को पग-पग पर मानों यही प्रतिध्वनि सुन पड़ती है—

"नियति चलाती कर्म-चक्र यह"

तभी उनके हृदय में यह टीस उठती है—

"उसको दुख माँग रही है,
आराम छीनता सुख को।
अपने को देकर उनको,
हूँ देख रहा उस मुख को।"

और

सुख-दुख का समुच्चय ही 'जीवन' है। पर संसार तो दुख से ही परिपूर्ण है। अतः जीवनमें दुख का भाग ही संसार-संघर्ष से मिलता है और सुख! इसे पाने की कौन आशा? यह तो शून्य में ही अन्तर्हित है। शायद 'नियति' ही उसे छीन रही है। अतः जीवन के सुख-दुख दोनों की परवा न कर मैं अपने 'प्रिय' के रूप को ही अपलक आँखों से देख रहा हूँ, पी रहा हूँ। फिर चाहे नियति दुख के गर्त में ढकेल दे, चाहे सुख के स्वर्ग में ले जाय। 'उसकी' 'साधना' में मैंने जीवन के सुख-दुख की चिन्ता का सर्वथा परित्याग कर दिया है। अपने को भाग्य के भरोसे छोड़ दिया है।

'कामायनी' में मनु श्रद्धा से बिछुड़कर 'खोखली शून्यता में प्रति-पद असफलता' की 'कुलाँच' देखकर चौंक उठते हैं—

"इस नियति नटी के अति भीषण,
अभिनय की छाया नाच रही।"

'आँसू' में भी यही भाव कवि को उद्वेलित कर रहा था—

"नचती है नियति नटी सी,
कन्दुक-क्रीड़ा सी करती।
इस व्यथित-विश्व आँगन में,
अपना अतृप्त मन भरती।"

संसार के प्राणियों को यह नटी 'कन्दुक' के समान उछालत रहती है और उनके उत्थान पतन के साथ अपनी 'क्रीड़ा करती रहर है। मनुष्य उसके आगे निश्चेष्ट हो जाता है, विवश हो जाता है!

कर्म-शक्ति पर अविश्वास का आवरण डालनेवाला यह नियति तत्व सचमुच मनुष्य को एक ओर तो घोर निराशा से भर देता है औ दूसरी ओर उसे अदृष्ट सत्ता में आस्था रखने को विवश करता है साथ ही वह उसे जीवन में निर्द्वन्द्व निर्भीक भी बनाता है।

'प्रसाद' का नियतिवाद जहाँ उन्हें बौद्धों के 'दुःखवाद' के निकट ले जाता है वहीं वह उन्हें बौद्धों के समान अनीश्वरवादी बनाने से भी रोकता है *। 'प्रसाद' शुद्ध बुद्धिवादी होने के कारण किसी सम्प्रदायी मत के अन्धजाल में अपने को नहीं उलझा सके। मध्य-कालीन सन्तों की भाँति उन्होंने 'शैवों' के नियतिवाद की 'साक्षी' ही भरी है। अपनी अनुभूति के बल पर ही उन्होंने उसके चरणों में सर झुका दिया है।

'प्रसाद' क्षय से पीड़ित थे। शरीर धीरे-धीरे घुला जा रहा था। मित्रों ने आग्रह किया—'अभी रोग बढ़ा नहीं है; किसी ठण्डे स्थान पर जाकर रहिए; काशी छोड़ दीजिए। उन्होंने कहा—"मैं कहीं नहीं जाऊँगा। मैं जानता हूँ, जो होना होगा वह तो होकर ही रहेगा।"

'प्रसाद' अन्त समय तक काशी ही में रहे। यह उनका नियति-विश्वास था, जो जीवितावस्था तक उनकी प्रत्येक श्वास में बोलता था। समस्त साहित्य में उनके जीवन की सच्ची अनुभूति ही 'वाद' बन गई है।

---

* "हे अनन्त रमणीय! कौन तुम? यह मैं कैसे कह सकता,
कैसे हो? क्या हो? इसका तो भार विचार न सह सकता।
हे विराट! हे विश्व देव! तुम कुछ हो ऐसा होता भान"—
मन्द गंभीर धीर स्वर संयुत, यही कर रहा सागर गान।"

कामायनी

'प्रसाद' के काव्य ग्रन्थ

'प्रसाद' में आधुनिक कविता का क्रम-विकास मिलता है। इनमें रीतिकालीन ब्रजभाषा की भाव-छटा, खड़ी बोली का अटपट इति-वृत्तात्मक प्रारम्भिक स्वर और फिर उसका परिष्कृत भाव-सौन्दर्य का उदय और उसकी चरम सीमा के दर्शन होते हैं; मुक्तक में भावों का दर्द सा उठना और आँसू सा ढलक जाना तथा महाकाव्य में भावों का उतार-चढ़ाव जीवन की जटिलता के बीच से मार्ग खोजता हुआ स्थायी प्रभाव जमाता दीखता है। चिन्तन भावावेश का समन्वय कला के विभिन्न रूपों के साथ सम्पन्न हुआ है।

'रूप' और 'अरूप'—बाह्य और अन्तर्जगत की अनुभूतियाँ लाक्षणिकता और प्रतीकत्व* के आवरण में व्यक्त हुई हैं। अरूप और अचे-

---

* प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति के कतिपय उदाहरण—(१) 'जीवन निशीथ के अंधकार' (कामायनी) में 'अन्धकार' आपन्न निराशा का प्रतीक है।

(२) 'यौवन मधुवन की कालिंदी' (कामायनी) में कालिंदी कामना का प्रतीक है।

(३) "झंझा झकोर गर्जन है; बिजली है, नीरदमाला" (आँसू) में झंझा झकोर गर्जन, हृदय को व्यथित करने वाली तीव्र भावनाओं; बिजली, हृदय में रह रह उठने वाला दर्द और नीरदमाला उदासी के प्रतीक हैं।

(४) "मुरली" मुखरित होती थी" (आँसू) में 'मुरली' भ्रमरों की गुंजार का प्रतीक है।

(५) "पतझड़ था, झाड़ खड़े थे, सूखी सी फुलवारी में।
किसलय दल कुसुम बिछाकर, आये तुम इस क्यारी में।" (आँसू)
में पतझड़—शुष्कता, 'किसलय दल कुसुम' सरसता और क्यारी हृदय के प्रतीक हैं।

तन पदार्थों में भी कवि ने 'चेतना' का आरोप किया है। उन्होंने अपने में और अपने से बाहर सभी में अपनी परछाईं देखी है। वे सब में समा जाने को व्याकुल रहे हैं। 'विभिन्नता' में एकता का अनुभव करना उनकी साधना रही है। परन्तु हम यह नहीं कहते कि कवि ने अपने को तटस्थ रखकर कभी कुछ नहीं कहा। वे केवल 'भाव ही भाव' नहीं रहे। चिन्तन, और मनन के उद्‌गार भी उन्होंने प्रकट किए हैं। 'आँसू' में 'कला' का जो रूप दिखलाई देता है, उसमें पर्याप्त बौद्धिक तत्त्व है जिसकी चर्चा आगे की गई है। बौद्धिक तत्त्व प्रधान होकर उसमें नहीं आता, इसी से उसकी स्थिति किसी रचना को 'दर्शन' नहीं बना देती। 'प्रसाद' का बौद्धिक तत्व काव्य की कला को सँवारने में ही यत्नशील होता है—उसकी आत्मा नहीं बन जाता। प्रसङ्गवश कहा जा सकता है कि आज का 'प्रगतिवादी' कवि इसी तत्त्व पर पनप रहा है। उसने विज्ञान की विश्लेपणात्मकता को इतना अधिक अपना लिया

---

(६) "आँसू से धुला निखरता, यह रंग अनोखा कैसा ?" (आँसू) में रंग 'प्रेम' का प्रतीक है।

(७) "नाविक ! इस सूने तट पर किन लहरों में खेला था ।" (आँसू) में 'नाविक' मन और 'लहरों' भावनाओं के प्रतीक हैं।

मानवीकरण—"अम्बर पनघट में डुबो रही,
तारा घट ऊषा नागरी" (लहर)

में 'ऊषा' को 'नागरी' का रूप दिया गया है जो अत्यन्त सजीव है। झरना में भी 'ऊषा' को अवगुण्ठनवती स्त्री का रूप दिया गया है। "घूँघट खोल ऊषा ने झाँका और फिर अरुण अपाङ्गों से देखा—कुछ हँस पड़ी। शब्द ध्वनि से अर्थ-व्यञ्जना—"झंझा, झकोर गर्जन है, बिजली है, नीरदमाला (आँसू) में भावनाओं का तूफान शब्दध्वनि में ही जोर मारता सुन पड़ता है।" "Words Echoing the sense" इसी को कहते हैं।

है कि वही 'काव्य की आत्मा' बन गई। 'प्रसाद' में चूँकि बुद्धितत्व की अवहेलना नहीं की गई है, इसलिए उनकी रचनाओं में अर्थ की अस्पष्टता अधिक नहीं पाई जाती। अस्पष्टता वहीं कष्टप्रद हो गई है जहाँ 'बहुत दूर की कौड़ी' लाने की चेष्टा की गई है। जैसे 'लहर' में एक स्थल पर दुःख पहुँचाने वाले व्यक्ति भी सहृदय बन गए। 'अश्रुपूर्ण हो गए' के लिए "काँटों ने भी पहना मोती" कहा गया है। 'प्रसाद' अपनी रचनाओं को 'निरलंकृता' रखने के पक्षपाती नहीं रहे—अभिव्यक्ति को सँवारने में वे सर्वत्र सचेष्ट रहे। उनके 'गीतों' की अभिव्यंजना अधिक मधुर है। उनमें प्रवाह शरत्-कालीन सरिता के समान कलकल ध्वनि से 'बोली बातें कहता हुआ' सा बहता है। नाटकों में कई सुन्दर गीतों की रचना हुई है, जो स्वतन्त्र भी गाये जा सकते हैं। उनमें जीवन का दार्शनिक तथ्य भी अन्तर्हित मिलता है। प्रेम और यौवन की मादकता से उनकी रचनाएँ सिहर-सी रही हैं। सच पूछा जाय तो वे यौवन और प्रेम के प्रमुख कवि हैं।

पाश्चात्य कवि दाँते ने बिट्रिस को एक बार देख लेने के बाद अपना सम्पूर्ण जीवन उसकी स्मृति में समर्पित कर दिया था। 'प्रसाद' की रचनाओं में जो प्रेमाभिलाष रह-रह कर छलक उठता है, उससे ऐसा प्रतीत होता है, कवि किसी अनन्त छवि-माधुरी की एक घूँट पीकर तृषित ही रह गये हैं। उस छवि ने उनके जीवन को अत्यधिक अभिभूत कर लिया और वे उसी की स्मृति के स्वप्न-चित्रों को भिन्न २ रंगों से सँवारते रहे। उनकी प्रत्येक कृति में वह मानो प्रेरक शक्ति बन कर बोलती है—

'आह वेदना मिली विदाई' में प्रतीत होता है, कवि का जीवन सत्य ही उसासें भर रहा है। अपने 'स्वप्न' से बिछुड़ जाने पर मनुष्य कितना असहाय अनुभव करने लगता है, इसकी अभिव्यक्ति भी इन पंक्तियों में कितनी अश्रुमय है—

प्रतीत होता है कि लोकप्रमाद से 'प्रिय' मिलन-कुञ्ज की छाया नहीं छू रहा है। निम्न पंक्तियाँ इसी को व्यक्त करती हैं—

रूखे ही तुम रहो, बूँद रस के झरें!
हम-तुम जब एक हैं, लोग बकते फिरें!"

'आँसू' में भी यही उलाहना है—

"किञ्जल्क जाल हैं बिखरे,
उड़ता पराग है रूखा।
है स्नेह सरोज हमारा,
विकसा मानस में सूखा।"

प्रकृति का वर्णन यत्र-तत्र प्रकृति को आलम्बन मानकर किया गया है। 'ग्रीष्म का मध्याह्न' में ग्रीष्म की भीषणता चित्र-लिखित सी प्रतीत होती है। 'गङ्गासागर' में कवि उस 'सागर' के मिलन की कामना व्यक्त करता है, जो अगाध है, अदृष्ट है और है सृष्टि का आदि स्रोत। 'आँसू' के पश्चात् प्रकाशित 'लहर' में भी "हे सागर संगम अरुण नील" को लक्ष्य कर यही भावना रहस्यमयी अनुभूति के साथ मुखर हो उठी है। 'हिमशैलबालिका' का सागर की ओर अनजान आकर्षण से खिंचकर बहना और सागर का अपनी नियत अवधि को तज लहरों के हाथों से उसका स्वागत करना, दोनों के आदि-ऐक्य का द्योतक है।

इस प्रकार कवि 'अपनी' भावनाओं में समय-समय पर एक ही रस भर उन्हें विभिन्न रूपों में उड़ेला करते हैं। इससे उनकी अन्तर्धारा के दिशैक्य का स्पष्ट बोध हो जाता है।

'कानन-कुसुम' की रचनाओं की विविधता 'महाकवि तुलसीदास' 'धर्मनीति': 'चित्रकूट', 'भरत', 'शिल्प', 'सौन्दर्य' 'श्रीकृष्ण जयन्ती' आदि तक बिखरी हुई है।

'कानन' के 'कुसुम' निर्गन्ध नहीं हैं पर वे सौरभ के भार को वहन भी नहीं कर रहे हैं।

करुणालय

यह प्रसाद का प्रथम और अन्तिम भाव-नाट्य है। यद्यपि उसे 'इन्दु-कला' में प्रकाशित सूचना में "गीति-नाट्य पर लिखा गया दृश्य काव्य" कहा गया है पर हम इसे गीति-नाट्य इसलिए नहीं कहते कि इसमें गीतात्मकता का प्राबल्य नहीं है—तुकान्त हीन मात्रिक छन्द में वाक्यानुसार विराम चिह्न दिया गया है। तुकान्तविहीन छन्दों में भी गीतात्मकता आ सकती है, परन्तु इसमें कई स्थल ऐसे हैं जो केवल गति-हीन गद्य ही रह गये हैं—कथा के अंश को जोड़नेवाले। इसके पूर्व स्व० पण्डित अम्बिकादत्त व्यास और स्व० पं० श्रीधर पाठक ने अतुकान्त रचना की थी, परन्तु उसे भावनाट्य का रूप 'प्रसाद' ने ही दिया। 'प्रसाद' के बाद पण्डित उदयशंकर भट्ट ने भावनाट्य की सफल रचनाएँ की हैं। जिनमें मत्स्यगन्धा, विश्वामित्र और राधा उल्लेखनीय हैं। ये वास्तव में भाव-नाट्य हैं। इनमें भावावेग के साथ ही कथा की गति बढ़ती है और नाट्य-छटा का दृश्य भी खिंच आता है।

'करुणालय में नौ पुरुष पात्र और दो स्त्री पात्र हैं। पात्रों की संख्या की अधिकता जो प्रसाद के नाटकों में पाई जाती है उसका सूत्र-पात इस छोटे से नाटक में ही हो जाता है।

इसका कथानक इस प्रकार है—

एक समय अयोध्या के महाराज हरिश्चन्द्र सूर्यास्त के समय सरयू में सहचरों सहित नाव पर जल-विहार कर रहे थे। सहसा नाव स्तब्ध हो जाती है और नेपथ्य में गर्जन सुन पड़ता है, "मिथ्याभाषी यह राजा-पाखण्डी है, इसने सुतबलि देना निश्चित था किया।

राजकुमार हुआ है अब बलि-योग्य तो फिर क्यों उसकी बलि यह करता नहीं!

उसका है यह दण्ड, आह! हतभाग्य यह जा सकता है नहीं कहीं भी नाव से"। हरिश्चन्द्र जब अज्ञात देव को अविलम्ब पुत्रबलि देने का आश्वासन देते हैं तब नौका चलने लगती है। वे अपने पुत्र रोहिताश्व को बलि चढ़ने की आज्ञा देते हैं पर रोहिताश्व उनकी आज्ञा भङ्गकर जङ्गल में चला जाता है। जहाँ उसे अजीगर्त, तारिणी और उसके तीन पुत्र क्षुधार्त मिलते हैं। रोहिताश्व अजीगर्त से सौ गायों के मूल्य में उसका कथित पुत्र शुनःशेफ बलि के लिए खरीद लाता है और राजा के सम्मुख उपस्थित होता है। पहले तो हरिश्चन्द्र पुत्र से आज्ञा-भङ्ग के कारण रुष्ट होते हैं पर वशिष्ठ मुनि के समझाने-बुझाने पर शुनःशेफ को बलि पर चढ़ाने की तैयारी की जाती है। बद्ध शुनःशेफ का अन्त करने को वधिक का शस्त्र भी नहीं उठता—उसका जी रह रहकर बैठने लगता है। इसी समय अजीगर्त पहुँच जाता है और कहता है कि "यदि सौ गाएँ और दो तो मैं कर दूँगा काम आपका शीघ्र ही"। शुनःशेफ आकाश की ओर देखकर परमात्मा से प्रार्थना करता है।

"हाय! तुम्हारी करुणा को भी क्या हुआ, जो न दिखाती स्नेह पिता का पुत्र से।" उसी समय आकाश गरज उठता है। विश्वामित्र अपने सौ पुत्रों सहित वहाँ प्रगट हो जाते हैं और नरबलि की भर्त्सना कर शुनःशेफ को बचा लेते हैं। वहीं उन्हें ज्ञात होता है कि शुनःशेफ उन्हीं का पुत्र है जिसे उसकी दासी माँ ने लोकविरुद्ध आचरण के कारण अजीगर्त के आश्रम में प्रसव कर छोड़ दिया था।

करुणालय में धर्म के नाम पर होने वाले पाशविक अत्याचारों की कटु आलोचना मिलती है। 'प्रसाद' पर बौद्धधर्म की (अहिंसावाद की) जितनी गहरी छाप थी, उसकी झाँकी इस प्रारम्भिक कृति में मिल जाती है। वे कहते हैं—"अपनी आवश्यकता का अनुचर बन गया, रे मनुष्य! तू कितने नीचे गिर गया, आज प्रलोभन-मय तुझसे करवा रहे हैं कैसे कुत्सित कर्म! क्यों तू मूढ़ है—और धर्म की छाप लगा कर—मूढ़

तू! फँसा आसुरी माया में, दिखा जगा"। जगत गतिशील है प्रगति को यहाँ कोई स्थान नहीं। इसीलिए वे कहते हैं—

'चलो पवन की तरह, रुकावट है कहाँ,
बैठोगे, तो कहीं एक पग भी नहीं
स्थान मिलेगा तुम्हें, कुटिल संसार में।
इच्छित फल की चाह दिलाती यश तुम्हें,
सारे श्रम उसको फूलों के हार से
लगते हैं, जो पाता ईप्सित वस्तु को।

इस तरह हमें 'करुणालय' में मानवता का स्वर-क्षमा, दया और परोपकार आदि—बहुत स्पष्टता से सुन पड़ता है। आगे चलकर 'आँसू' में भी कवि की करुणा वञ्चित, भूखे और निराश नयनों के प्रति जागृत हुई है—

"फिर उन निराश नयनों की,
जिनके आँसू सूखे हैं
उस प्रलय दशा को देखा
जो चिर वंचित भूखे हैं।"

प्रेम-पथिक

यह करुणालय के समान अतुकान्त रचना है पर भाव नाट्य नहीं है, कथा-काव्य है। 'प्रसाद' ने पहिले इसे व्रज भाषा में १९६२ में लिखा था। आठ साल बाद आपने इसे खड़ी बोली में परिवर्तित और परिवर्द्धित कर पुनः प्रकाशित किया। काव्य की कथा इस प्रकार है। आनन्द नगर में दो पड़ोसी मित्र रहते थे। एक की कन्या से दूसरे मित्र के पुत्र का परम स्नेह था। वे दोनों नित्य परस्पर नदी-कूल कुसुमकुन्ज में खेला करते, उन्हें देखकर ऐसा प्रतीत होता था मानो दो फूल एक ही डाल में खिले हों। बहुत काल तक दोनों इसी तरह आमोद-प्रमोद में पनपते गए। लड़के के पिता ने मरने से पूर्व उसे अपने मित्र को सौंप दिया। तब दोनों प्रेमी साथ साथ एक ही गृह में रहने लगे। अब वे दो शरीर एक प्राण बन गए। सहसा लड़की के पिता ने उसका किसी अन्य युवक से विवाह कर दिया। प्रेमी युवक यह अघात न सह सका; घर से निकल गया। वर्षों भटकता रहा–एक दिन वह थक कर एक कुटी में पहुँचा जहाँ एक तापसी रहती थी। रात को उसने तापसी से जब अपना जीवन-वृत्त कहा तो वह चौंक पड़ी क्योंकि वह वही लड़की थी जिसके साथ वह बचपन में खेला, हँसा, और अनुरक्त हुआ था। तापसी ने भी अपने वैवाहिक जीवन के कष्ट आदि कहे और अन्त में दोनों एक होकर अपने जीवन का अरुणोदय देखने लगे।

प्रेम-पथिक की यह कथा गोल्ड स्मिथ के 'हरमिट' से मिलती जुलती है। परन्तु प्रेम का जो आदर्शमय उज्ज्वल रूप 'प्रसाद' ने प्रस्तुत किया है वह 'हरमिट' में नहीं दिखाई देता। 'प्रसाद' कहते हैं—

"इस पथ का उद्देश्य नहीं है, श्रांत भवन में टिक रहना
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।"

प्रेम की आग इस जीवन में ही नहीं बुझ जाती—वह सब छाख, जन्म जन्मान्तर तक सुलगती रहती है। उसका ध्येय अपने अस्तित्व को मिटा देने में है। और

"प्रियतम मय यह विश्व निरखना फिर उसको है विरह कहाँ
फिर तो वही रहा मन में, नयनों में, प्रत्युत जगभर में।
कहाँ रहा तब द्वेष किसी से क्योंकि विश्व ही प्रियतम है।"

इन पंक्तियों में प्रेम के व्यावहारिक—लौकिक रूप को सर्वथा विस्तृत कर उसे अलौकिकता के शिखर पर आसीन कर दिया गया है। जगत के कण-कण में प्रिय का कम्पन अनुभव करना सचमुच उच्च साधना है, कष्ट कल्पना है।

तभी वे कहते हैं—

'पथिक ! प्रेमकी राह अनोखी भूल-भूलकर चलना है।
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुए।
प्रेम-यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा।
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-विहारी होने का फल पाओगे।

मित्रता के विषय में कवि की धारणा है कि जिसे हम मित्रता समझते हैं, वह केवल शिष्टाचार रहता है। मुँह देखने पर ही मित्र की बातों में मिठास रहती है। वे कहते हैं —

"कहीं तुम्हारा स्वार्थ लगा है, कहीं 'लोभ' है मित्र बना
कहीं 'प्रतिष्ठा', कहीं 'रूप' है, मित्र-रूप में रँगा हुआ
हृदय खोलकर मिलने वाले बड़े भाग्य से मिलते हैं।"

'प्रसाद' नियतिवादी हैं। वे भाग्य को मानव व्यापारों का संचालक मानते हैं। प्रेमपथिक में उनका यह विश्वास निम्न पंक्तियों से उच्छ्वसित हो रहा है—

"लीलामय की अद्भुत लीला किससे जानी जाती है,
कौन उठा सकता है धुँधला पट भविष्य का जीवन में।

जिस मन्दिर में देख रहे हो जलता रहता है कर्पूर,
कौन बता सकता है उसमें तेल न जलने पावेगा।
यह भी नहीं जानता कोई वही महल, आशामय के
विशद कल्पना-मन्दिर सा कब चूर चूर हो जायेगा।
कुटिल काल के किस प्रभाव से फिर क्या क्या बन जावेगा।"

नियतिवादी अदृष्ट शक्ति के प्रत्येक कार्य में समष्टि का शिव देखता है, उसके प्रति अटूट आस्था रखता है।

"दुःख देखकर अपना ही—
मत समझो सब दुखी जगत को, मत लांच्छन दो ईश्वर को
शिव समष्टि का होता इच्छा उसकी पूरी होती है।"

......प्रेम पथिक में वर्णनात्मक और उपदेशात्मक अंश अधिक हैं। इसमें स्वभावतः काव्य की बाह्यात्मकता अधिक है। पथिक और तापसी की आँखों में आँसू देख कवि कहते हैं।—

"नीलोत्पल्ल के बीच सजाए मोती-से आँसू के बूँद,
हृदय-सुधानिधि से निकले हो सब न तुम्हें पहिचान सकें।
प्रेमी के सर्वस्व अश्रुजल चिर दुःखी के परम उपाय,
यह भव-धरा तुम्हीं से सिञ्चित होकर हरी-भरी रहती
उन हृदयों को शीतल कर दो जो परितापित हैं दुःख से।

'आँसू' नामक काव्य में भी कवि ने यह कामना की है, कि आँसू 'बहुजन हिताय' ही बरसें, अपने दुख से दुखी रहने की अपेक्षा लोक-दुःख को अपना दुःख बनाकर उसमें सहानुभूति प्रदर्शित करना ही सच्ची भावुकता है।

'प्रसाद' ने प्रेमपथिक को अलङ्कारों की विविधता से बोझिल नहीं बनाया। उन्होंने यत्र तत्र कुछ उपमाएँ ऐसी अवश्य प्रस्तुत की हैं जिनमें आधुनिकता की छाया है। जब से हिन्दी साहित्य में क्रोसे के अभिव्यञ्जनावाद की धूम मची है, कवि पुराने अलङ्कारों से मुक्त हो नये नये रूप-विधानों से अपने को व्यक्त करते हैं।

आजकल उपमा के दो प्रकार अधिक प्रचलित हैं, (एक) स्थूल वस्तु की सूक्ष्म से, (दूसरा) सूक्ष्म वस्तु की स्थूल से —दूसरे प्रकार की उपमा के उदाहरण कम मिलते हैं। प्रेम-पथिक में पहले प्रकार की उपमा निम्न पंक्तियों में मिलती है—

"सच्चा मित्र कहाँ मिलता है ? दुखी हृदय की छाया-सा।"

दूसरे प्रकार की उपमा 'हिमालय-सा भी जिसका हृदय रहे' में मिलती है। अप्रस्तुत से प्रस्तुत की व्यञ्जना निम्न पंक्तियों में कितनी सुन्दर है—

'चिढ़ जाता था वसन्त का कोकिल भी सुनकर वह बोली,
सिहर उठा करता था मलयज इन श्वासों के सौरभ से।"

पथिक की प्रेमिका की बोली के सामने वसन्त का कोकिल लजा जाता था। और उसकी श्वासों से निकलनेवाली सुरभि के आगे मलयज की गन्ध निर्गन्ध बन जाती थी। कवियों ने प्रायः मादा कोयल की कूक को ही अपनाया है पर पक्षी-विज्ञानी कहते हैं कि जो कूक हम सुनते हैं वह मादा की नहीं नर कोकिल की होती है 'प्रसाद' को यह तथ्य अवगत था।

कण्व ऋषि के आश्रम की शकुन्तला के समान 'प्रसाद' का पथिक भी अपने नगर को छोड़ते समय वहाँ के परिचित वृक्षों से भी विदा लेता है।

"हृदय हुआ था विकसित जिन वृक्षों को कुसुमित देख नितान्त
उनसे भी आलिङ्गन करके किया प्रणाम बिदाई का।"

प्रेम- पथिक सचमुच उदात्त और कोमल विचारों का लघु काव्य है, जिसमें 'प्रसाद' का भावी सुन्दर कवि मुस्कुरा रहा है।

इस 'तव' में किसकी ओर संकेत है ? किसके कटाक्ष-रस से सारा तन मन प्लावित हो उठा ? यह 'तव' 'यहाँ' का – इहलोक का—हाड़ माँस का पुतला हो सकता है और उस लोक का भी जो केवल कल्पना में ही स्थित है—जिस तक हमारी वृत्तियाँ सहज केन्द्रित होना नहीं चाहतीं; नहीं जानतीं ।

'प्रसाद'के एक आलोचक लिखते हैं—"जीवन के प्रेम-विलासमय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे उस 'प्रियतम' के संयोग-वियोगवाली रहस्य-भावना में—जिसे स्वाभाविक रहस्य-भावना से अलग समझना चाहिए – प्रायः रमते पाये जाते हैं । प्रेम चर्चा के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं (अश्रु, स्वेद, चुम्बन, परिरम्भण, लज्जा की दौड़ी हुई लाली इत्यादि), रँगरेलियों और अठखेलियों, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जमती थी । इसी मधुमयी प्रवृत्ति के अनुरूप उनकी प्रकृति के अनन्त क्षेत्र भी वल्लरियों के दान, कलिकाओं की मन्द मुस्कान, सुमनों के मधु-पात्रों पर मँडराते मलिन्दों के गुंजार, सौरभ हर समीर की लपक-झपक पराग-मकरन्द की लूट, ऊषा के कपोलों पर लज्जा की लाली, आकाश और पृथ्वी के अनुरागमय परिरम्भ, रजनी के आँसू से भीगे अम्बर, चन्द्रमुख पर शरद्घन के सरकते अवगुण्ठन, मधुमास की मधु-वर्षा और झूमती मादकता इत्यादि पर अधिक दृष्टि जाती थी ।" दूसरे आलोचक भी इसी बात को इन शब्दों में कहते हैं—" 'प्रसाद' जी का काव्य मूलतः मानवीय है ।" इसके विपरीत ऐसे भी आलोचक हैं, जो 'प्रसाद' की रचनाओं में रहस्यवाद ही पाते हैं; वे इसे विरह-काव्य तो मानते हैं पर 'विरह' में अलौकिकता का आरोप कर आत्मा को परमात्मा के विरह में 'आँसू' बहाता पाते हैं । हाल ही एक समाचार पत्र में 'आँसू' के 'कथानक' की रोचक 'खोज' पढ़ने को मिली । उसे हम यहाँ मनोविनोद के लिये दे रहे हैं । "इसमें (आँसू में) सृष्टि के मिलन और विरह का आख्यान है । सवाल

उठता है, सृष्टि का यह मिलन और विरह किससे ? 'सुन्दर' से 'चिर सुन्दर' से। (फिर सवाल उठता है—यह 'सुन्दर'–'चिरसुन्दर' कौन ? इसका उत्तर आगे "ब्रह्म" कह कर दिया गया है।)

'आँसू' की 'कथा' लेखक यों देते हैं :—

"सृष्टि की एक महा मिलन की अवस्था थी। उसमें सर्वदा सुन्दर का विस्तार था। सृष्टि और सुन्दर एक दूसरे से परे पड़े थे।" (मिलन की अवस्था थी और 'परे भी पड़े थे', यह विरोधाभास भी रहस्य-मय ही है ?) आगे और भी सुनिये—"वस्तुतः सृष्टि और सुन्दर दो चीजें नहीं थीं। केवल एक ही वस्तु थी—सुन्दर के यहाँ विस्तार पदार्थ का असीम समूह। महामिलन की यह अवस्था एक लम्बे युग तक चलती रही। फिर पदार्थ का पृथक्करण होना शुरू हुआ। पृथ्वी आकाश से अलग हो गई; (तो क्या आकाश और पृथ्वी भी एक थे ?) नक्षत्र अलग हो गये। यह प्रतिक्रिया (!) भी एक लम्बे समय तक चलती रही। भीषण आँधियाँ उठीं; बर्फ की चट्टान पिघल पिघल कर सागर, सरिता, सरोवर आदि के रूपों में बहने लगीं। भीषण आँधियाँ आईं, अँधेरा छाया; बिजलियाँ कड़कीं। संक्षेप में सृष्टि विभिन्न तत्वों में बँट गई। फिर सृष्टि में चेतना तत्व का विकास हुआ और 'सुन्दर' तिरोहित हो गया। तब से सृष्टि का सुन्दर से विरह शुरू हो गया। विरह का आविर्भाव क्यों हुआ ? चेतना के कारण। चेतनाशून्य अवस्था में द्वन्द्व का अस्तित्व न था, सर्वत्र एक ही तत्व था चिर-सुन्दर। पर चेतना के उदय के साथ सुख-दुख का भेद प्रकट होने लगा। अब हजारों सालों से सृष्टि की यह विरहावस्था चली आ रही है। उस सुन्दर का, जो सृष्टि के महामिलन की अवस्था में सर्वत्र विद्यमान था, ज्ञान कवि की प्रतिभा को होता है। उसकी पूर्व स्मृति जाग उठती है। कवि सृष्टि के महामिलन की अवस्था का ध्यान करके अब चतुर्दिक विरह का प्रसार देख कर नौ-नौ आँसू बहाता है।

अन्त में उसे इस बात से आश्वासन प्राप्त होता है कि फिर प्रलय के बादल उठेंगे, भीषण वर्षायें होंगी, आँधियाँ आयेंगी, बिजलियाँ चमकेंगी, द्वित्व समाप्त हो जायगा, चेतना सुप्त हो जायगी। फिर महामिलन की अवस्था आयेगी, सर्वत्र सुन्दर का विस्तार-प्रस्तार होगा।" आपने प्रथम 'सृष्टि' को 'प्रेमिका' और 'सुन्दर' को 'प्रियतम' का प्रतीक माना फिर शीघ्र ही अपने विचार को बदल दिया, "या यों कहिये सृष्टि प्रेमी है, 'सुन्दर' प्रेम पात्र। सृष्टि का प्रतिनिधि कवि स्वयं है।" आपकी सम्मति में 'आँसू' 'सृष्टि' की उत्पत्ति और प्रलय का रूपक है। इसके समर्थन में आप 'आँसू' से निम्न पंक्तियाँ भी उद्धृत करते हैं :—

"बुलबुले सिन्धु के फूटे,
नक्षत्र मालिका टूटी।
नभ मुक्त कुन्तला धरणी,
दिखलाई देती लूटी।
छिल छिलकर छाले फोड़े,
मल मल कर मृदुल चरण से।
धुल धुल कर रह बह जाते,
आँसू करुणा के कण से।

और इनका इस प्रकार अर्थ करते हैं—

"महामिलन की अवस्था में पदार्थ का प्रबल उष्ण पदार्थ का (शायद आप विज्ञान की उस धारणा का उल्लेख करते हैं जिसमें सृष्टि को आदिमावस्था में आगका गोला कहा गया है।) एक असीम समूह था। उसका कुछ हिस्सा फफोलों की तरह फूट गया (यह 'छिल छिल कर छाले फोड़े' का अर्थ लगाया गया है !) और सागर रूप में वह चला। पदार्थ के उस असीम समूह से प्रकाश पुञ्ज के पिण्ड पिण्ड अलग हो गये। ये सब नक्षत्र बन गये (यह संभवतः 'नक्षत्र मालिका टूटी' का अर्थ है।) बेचारी यह पृथ्वी नभ-मुक्त होकर यानी पदार्थ के उस बृहत्तम समूह से अलग हो

कर शोभा विहीन बिखरे बाल हैं जिसके ऐसी, एक विधवा की तरह लुटी हुई, दिखाई देने लगी। बर्फ की चट्टानों पर चट्टानें फिसलने लगीं और फिसल कर पृथ्वी के ऊपर सरिता, सागर और सरोवरों के रूप में बन गईं। मानो आनन्द की उस महा सम्पत्ति के लुट जाने पर ये सब आँसू बहा रहे थे।"

'आँसू' को ध्यान से पढ़ने पर लेखक द्वारा निर्दिष्ट "रूपक" की संगति नहीं बैठती। न कहीं बर्फ की चट्टानों के पिघलने का उल्लेख है, न कहीं आँधी और बिजलियों के चलने-गिरने का। लेखक ने

"झंझा झकोर गर्जन, बिजली है, नीरद माला।
पाकर इस शून्य हृदय को सबने आ डेरा डाला।"

से पहिली पंक्ति के "झंझा झकोर, बिजली, और नीरद माला' शब्दों को लेकर यह कल्पना तो कर ली कि यह सृष्टि पर होने वाले प्रलय का वर्णन है पर उसी की दूसरी पंक्ति ""पाकर इस शून्य हृदय को,...... सब ने आ डेरा डाला।" को सर्वथा विस्मृत कर दिया। यदि वे तनिक विचार करते तो उन्हें 'झंझा', 'बिजली' और 'नीरदमाला' भावों की हलचल वेदना और उदासी के प्रतीक जान पड़ते, जो वियोग की दशा में कवि के हृदय को अभिभूत बनाये हुये थे।

इसी प्रकार 'छिल छिल कर छाले फूटे' का (सृष्टि के ?) प्रबल उष्ण पदार्थ का कुछ हिस्सा फफोले की तरह फूट गया। अर्थ लेखक की दीमाग़ी कसरत ही प्रतीत होती है। 'बुलबुले सिन्धु के फूटे, नक्षत्र-मालिका टूटी' का अर्थांश 'उस असीम समूह से प्रकाश पुंज के पिंड के पिंड अलग हो गये। ये सब नक्षत्र बन गये।' भी असंगत है। पंक्ति में नक्षत्रमालिका के बनने का भाव कहाँ है ? वहाँ तो उसके टूटने की चर्चा है। आगे 'नभमुक्त कुन्तला धरणी का अर्थ' बेचारी यह पृथ्वी नभ मुक्त होकर यानी पदार्थ के उस बृहत्तम समूह से अलग होकर किया गया है। इससे क्या यह समझा जाय कि 'नभ' पृथ्वी के समान ठोस

विस्तृत पदार्थ है जिसका एक टुकड़ा यह पृथ्वी है ? यह बात विज्ञान से सिद्ध नहीं होती। फिर 'मुक्त कुन्तला धरणी' का अर्थ बिखरे बाल हैं जिसके ऐसी भी किया गया है। 'मुक्त', कुन्तला का विशेषण हो जाने पर उसका "नभ" से क्या सम्बन्ध जोड़ा गया है, यह स्पष्ट नहीं है। इतनी खींच तान करने पर भी लेखक अन्त तक सृष्टि के सर्जन और विसर्जन (प्रलय) की वैज्ञानिक कहानी पूर्ण निर्वाह नहीं कर पाये। अतः अन्त में उन्होंने यह लिखकर 'झंझट से छुट्टी पा ली कि "आँसू के कथानक में वैज्ञानिकता — अवैज्ञानिकता दोनों है।" यह सब 'गड़बड़ झाला' इस लिए हो गया कि लेखक ने 'प्रसाद' के प्रतीकों को ठीक रूप में पकड़ने की चेष्टा नहीं की और न उनकी संगति ही वे जमा पाये। कवि की अभिव्यक्ति व्यापक होती है। पाठक उसे अपनी बुद्धि के अनुसार अर्थ देने के लिए स्वतंत्र है पर अर्थ ऐसा हो जो संगति के 'चारों खूंट घेर ले।' 'आँसू' में कला की सजगता इतनी अधिक है कि पाठक उसमें मनमाना अर्थ खोज सकता है पर वही अर्थ मान्य होना चाहिए जिसका अन्त तक निर्वाह हो सके। इसीलिये हमने उसे मानवीय काव्य माना है—रहस्यवादी नहीं। शुद्ध रहस्यवादी रचनाओं में 'अन्नमयकोष' के प्रति विरक्ति पाई जाती है; चैतन्य 'मनोमय' और 'आनन्दमय' कोषों में 'एकता' का अनुभव करता है। अन्तिम कोटि की रचना में चाहे जो कहलायें, काव्य के अन्तर्गत नहीं आतीं। उनसे बुद्धि का कुतूहल दूर हो सकता है हृदय की प्यास नहीं बुझ सकती।

'आँसू' में व्यक्त के प्रति ही आकांक्षा प्रकट की गई है। इसमें अन्नमय कोष का—स्थूल सौन्दर्य का—आकर्षण प्रबल है, जो निम्न उद्धारों से स्पष्ट है:—

(१) इस हृदय-कमल का घिरना
अलि-अलकों की उलझन में।

(२) बाँधा था विधु को किसने
इन काली जंजीरों से।

(३) थी किस अनङ्ग के धनु की
वह शिथिल शिञ्जिनी दुहरी।
अलबेली बाहु-लता या
तनु छबि-सर की नव लहरी ?

आदि शब्दों में 'स्थूल शरीर' का नख-शिख वर्णन हो है। अतः 'आँसू' का आधार ससीम व्यक्ति है, जिसके मिलन-सुख की स्मृति ने कवि के हृदय में वेदना-लोक की सृष्टि की है। यह अवश्य है कि कवि ने यत्र-तत्र परोक्ष का संकेत कर उसे अलौकिकता की आभा से द्रास करने का प्रयास किया है, जिससे ऐसा भासने लगता है कि कवि का उस 'विराट' से साक्षात्कार हो चुका है। निम्न पंक्तियों में कुछ ऐसा ही संकेत है—

(१) कुछ शेष चिह्न हैं केवल,
मेरे उस महामिलन के।

(२) आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी।

परन्तु इन संकेतों के विद्यमान रहते भी रचना का आधार एकदम पारलौकिक नहीं माना जा सकता। प्रेमी के लिए उसके प्रिय का क्षणिक मिलन—ऐसा मिलन, जिसे वह अन्तिम समझ चुका है—'महा-मिलन' ही है, और 'आँसू' की 'स्मृतियों की बस्ती' में तो हमें प्रिय की पार्थिव अङ्ग-शोभा ही नहीं, 'प्रेमी' और 'प्रिय' के शरीर व्यापारों की झाँकी भी मिलती है—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा,
निश्वास मलय के झोंके।
मुख-चन्द्र चाँदनी-जल से,
मैं उठता था मुँह धोके !

इसके साथ ही जब हम यह पढ़ते हैं—

निर्मम जगती को तेरा,
मङ्गलमय मिले उजाला।
इस जलते हुए हृदय की,
कल्याणी शीतल ज्वाला!

तब जान पड़ता है, आँसू का 'आलम्बन' जन-समूह भी है।

तो क्या हम यह मान लें कि 'आँसू' की वेदना की कोई निर्दिष्ट भूमि नहीं' और 'उसका कोई एक समन्वित प्रभाव निष्पन्न नहीं होता'! पुस्तक को ऊपरी दृष्टि से—सरसरी तौर पर—देखा जाय, तो ये आक्षेप ठीक प्रतीत होंगे; किन्तु उसकी मनोभूमि में प्रविष्ट होने पर हमें उसमें जीवन की एक मनोवैज्ञानिक कहानी अन्तर्हित दिखलाई देती है।

'आँसू' के नायक को 'दुर्दिन'* में अपने गतवैभव—विलासपूर्ण जीवन का स्मरण हो आता है; उसकी प्रेयसी की मदमाती छवि उसकी आँखों में बस जाती है। उसे याद आता है, मानो 'हाफ़िज़' के शब्दों में 'माशूकों' के जमाव में सम्राट् एक ही था। 'गिनती में वे हज़ारों थे, मगर उसके दिल को चुरानेवाला एक ही था।' † स्मृति के जागृत होते ही वह उदास हो जाता है—अपने 'प्रिय' के प्रथम आगमन—प्रथम परिचय—की अवस्था को रह रहकर निरखने लगता है। कभी सोचता है, वह इस पृथ्वी की न थी, स्वर्गिक आभा थी, जो उससे मिलने को नीचे आई थी। ‡ उसका 'मधुराका' को लजानेवाला 'मुख' देखते ही वह उसकी ओर खिंच गया था। Love at first sight § इसी को कहते

---

* जो घनीभूत पीड़ा थी मस्तक में स्मृति सी छाई,
दुर्दिन में 'आँसू' बनकर वह आज बरसने आई।

† थी एक लकीर हृदय में, जो अलग रही लाखों में।

‡ गौरव था, नीचे आए मिलने को प्रियतम मेरे।

§ परिचित-से जाने कब के, तुम लगे उसी क्षण हमको।

हैं। उसमें वह अपना अस्तित्व ही भूल गया। उसने उस पर पूर्ण अधिकार जमा लिया।* जब मनुष्य के मन में किसी की स्मृति तीव्रतम हो उठती है, तो वह स्मृति के आधार की आकृति, उसकी बातों, उसके व्यापारों—कार्य-कलाप—का बहुत विस्तार के साथ मनन करने लगता है। तभी हम 'आँसू' के नायक को अपने 'प्रिय' के शारीरिक सौन्दर्य-वर्णन में—नहीं, नहीं, उसके साथ मिलन-क्रीड़ाओं का उल्लेख करने में भी—हर्ष विकम्पित पाते हैं। 'चाँदनी' की चाँदी भरी रातें सुख के सपनों की अधिक समय तक उसके 'कुञ्ज' में वर्षा नहीं करने पाईं। वह 'प्रिय' से बिछुड़ जाता है और वह उससे मुँह भी मोड़ लेती है।† तब उसका हृदय स्वभावतः जलता है, तड़पता है। उसमें आशा-निराशा की आँख मिचौनी सी होती रहती है। जब सशरीर अपने निकट उसे देखने की आशा का अन्त हो जाता है, तब वह प्रकृति के व्यापारों द्वारा उसके सान्निध्य-सुख का अनुभव करने लगता है:—

शीतल समीर आता है, कर पावन परस तुम्हारा।
मैं सिहर उठा करता हूँ, बरसा कर आँसू-धारा॥

जैसे उद्‌गार इसी परिस्थिति के द्योतक हैं—

फिर वह अपनी स्थिति से ही सन्तुष्ट होने का प्रयत्न करता है—

निष्ठुर! यह क्या, छिप जाना! मेरा भी कोई होगा
प्रत्याशा विरह-निशा की हम होंगे औ' दुख होगा।

'दर्द का हद से गुज़रना है दवा हो जाना' के अनुसार वह निराशा को त्याग देता है। दुखी मनुष्य का दुख दूसरों के दुख को देखकर घट

---

* पर समा गये थे मेरे मन के निस्सीम गगन में!

† छिप गईं कहाँ छूकर वे, मलयज की मृदुल हिलोरें।
क्यों घूम गई हैं आकर, करुणा-कटाक्ष की कोरें॥

आँसू

जाता है। 'आँसू' के नायक ने जब देखा कि संसार में वही दुखी नहीं है, उसके चारों ओर मानव-जाति पीड़ा से कराह रही है, तब वह अपनी व्यथा को भूलने लगता है, दूसरों के दुःखदर्द में अपनी सहानुभूति प्रकट करने लगता है और प्रकृति से भी प्रार्थना करता है कि वह भी संसार के दुख को कम करने में सहायक बने। वह अपनी वेदना से भी कहता है—तुम अपनी ही उलझनों को सुलझाने में व्यग्र न रहो; अपने ही अभावों में न जलो। तुम्हारे चारों ओर जो हाहाकार मचा हुआ है, उसे भी अनुभव करो। संसार के सभी दुखी प्राणियों के दुःख में अपने आँसू बहाओ।

'आँसू' में मानव-जीवन का व्यक्ति का समष्टि की ओर विकास भी दिखलाई देता है। पहले हम भौतिक सौन्दर्य की ओर एकदम खिंच जाते हैं, उसी को परमात्मा मान लेते हैं—स्वर्ग और परलोक की सारी कल्पनाओं का उसी में आरोप कर देते हैं। उसकी आराधना में ही हम सब कुछ भूल जाते हैं। हमारी दुनिया 'दो' ही में समा जाती है। परन्तु जब भौतिक सुख छिन जाता है, तो हम पहले तो उसकी याद में तड़पते हैं, रोते हैं, आशा-निराशा में उतराया करते हैं और फिर ज्यों-ज्यों उसके अप्राप्य बनते रहने की सम्भावना बढ़ती जाती है, हमारी मोह निद्रा टूटती जाती है। हम वस्तु-स्थिति को पहचानते हैं और अपनी सहृदयता को अपनी ही ओर केन्द्रित न रखकर संसार में बिखेर देते हैं। लोक-कल्याण में हम अपने जीवन का अन्तिम ध्येय अनुभव करने लगते हैं। दूसरे शब्दों में 'आँसू' में पहले उठते यौवन की मादकता—बेचैनी, फिर प्रौढ़ता का चिन्तन और अन्त में ढलती आयु का निर्वेद दिखलाई देता है।

'आँसू' की 'आत्मा' को देखने पर उसमें तारतम्य जान पड़ता है। अतः 'प्रबन्धमय' है। पर 'आँसू' के अनेक पद्य ऐसे भी हैं कि उन्हीं पर मन को केन्द्रित करने से वे प्रत्येक अपने में 'पूर्ण' प्रतीत होते हैं।

इस तरह, 'आँसू' उस 'मोतियों' की लड़ी के समान है जिसका प्रत्येक 'मोती' पृथक रहकर भी चमकता है और लड़ी के तार में गुँथकर भी 'आब' देता है। वस्तुतः उसमें मुक्तत्व और प्रबन्धत्व दोनों हैं।

भाव-पक्ष

हमारे हृदय में अनेक भावों की स्थिति है; परन्तु वे कुछ एक—नौ—में परिगणित कर लिए गए हैं और वे ही हमारे मूल भाव माने जाते हैं। शेष समय-समय पर तरङ्गित हो उठते हैं। साहित्य में वे ही भाव—वे ही भावनाएँ—मान्य हैं, जो अपने 'आश्रय' के 'सुख-दुख' तक ही सीमित नहीं है, प्रत्युत जिनकी व्याप्ति विश्व में समाई हुई है; जो केवल कवि में उदित नहीं होते, समान परिस्थति में अन्य व्यक्तियों में भी जाग उठते हैं। दूसरे शब्दों में, जिन भावों में 'साधारणीकरण' की अवस्था पैदा करने की सामर्थ्य नहीं, वे व्यक्ति-विशेष के भाव हो सकते हैं, साहित्य के नहीं।

'प्रसाद' के 'आँसू' उनकी ही आशा-निराशाओं के 'स्फुलिङ्ग' नहीं हैं। उनमें हमारी आशाएँ-निराशाएँ भी प्रतिबिम्बित जान पड़ती हैं। वे हममें पीड़ा भरकर भी अनिवर्चनीय 'आनन्द' की सृष्टि करते हैं। परन्तु 'आँसू' के भावों की एक विशेषता है—वे सीधे निःसृत होकर सीधे ही प्रविष्ट नहीं होते। वे कला का सुन्दर अवगुण्ठन डालकर आते हैं। जब तक हम कवि के सश्रम निर्मित अवगुण्ठन को पहचान नहीं पाते, वे हमारे मन में 'रस बूँद' नहीं बरसा पाते; हमें आत्मविभोर नहीं बना पाते। यही कारण है, 'आँसू' में बहुतों को दुरूहता दिखाई देती है। सच बात तो यह है कि अप्रच्छन्न होकर 'प्रसाद' ने बहुत कम कहा है। कई बार वे शब्दों का चित्र खींचकर ओझल हो जाते हैं और हमें अपनी भावनाओं का रङ्ग भरने को स्वतन्त्र छोड़ देते हैं। कभी कभी ऐसा भी प्रतीत होने लगता है कि कवि स्वयं अनुभव नहीं कर रहा है,

उसकी बुद्धि अनुभव का अभिनय कर रही है। जहाँ कवि अपनी 'मींद' को भूल जाता है, वहीं उसकी बुद्धि जाग उठती है और विवेक के गीत गाने लगती है। अँगरेज़ी का प्रसिद्ध आलोचक 'रिचार्ड्स, आधुनिक श्रेष्ठ कवि टी० एस० ईलियट की रचनाओं के सम्बन्ध में लिखता है कि 'उसके काव्य में विचारों का सङ्गीत झरता है' ("His Poetry can be called a Music of ideas ...... they are there to be responded to, not to be pondered or worked out")।

जिसके साथ हमारा मन चिन्तनशील नहीं बनता, 'बहता' है। 'आँसू' में जहाँ बुद्धितत्त्व है, वह इसी कोटिका है। कवि जहाँ अपनी वेदना को विश्व में बिखेरने के लिए अपने चारों ओर आँखें दौड़ाते हैं, वहाँ उनमें भावावेश (Emotion) का वह अंश खो जाता है जिसका संसार अपने तक ही रहता है। 'बुद्धि' ही बहिर्मुखी बनाती है।'कवि' के बहिर्मुखी होने पर भी उनके गीतों में शुष्कता नहीं रहती। संसार की स्वार्थपरता और कृतघ्नता पर ये पंक्तियाँ क्या हमारे मर्म तन्तुओं को नहीं हिलातीं?—

"कलियों को उन्मुख देखा,
सुनते वह कपट कहानी।
फिर देखा उड़ जाते भी,
मधुकर को कर मनमानी।"

इनमें कोई उपदेश नहीं है, आदेश नहीं है। फिर भी वे 'बुद्धि' पर विचार का भार न लादकर भी हमें उपदेश देती हैं और निर्देश भी। पर 'उपदेश' और 'निर्देश' हमारा अचेतन मन ही ग्रहण करता है।

हम पहिले कहीं कह आये हैं कि 'प्रसाद' समय की व्यापक चेतना के प्रति जागरूक रहे हैं। अतः जहाँ 'आँसू' में उनकी करुण अनुभूति की ठिसक और कसक है, वहाँ 'चिर-वञ्चित भूखों की प्रलय दशा' ने भी उनकी आँखों को गीला बनाया है। यही जागरूकता ही मन के तोल

को सँभालती है—बुद्धि के उदय का आभास देती है।

'आँसू' का मुख्य भाव विरह-शृंगार है जो 'करुणा' के सिञ्चन से निखर गया है और लोक-कल्याण की शान्त कल्पनासे पूत हो उठा है। 'आँसू' के पूर्व ही 'राज्यश्री' में कवि का अन्तर स्वर सुन पड़ा था—

"दुःख परितापित धरा को,
स्नेह जल से सींच।
स्नान कर करुणा सरोवर,
धुले तेरा कीच॥"

विरह में 'स्मृति' का ही प्राधान्य होता है; अतः 'आँसू' में हम "प्रेमी' और 'प्रिय' के मिलन-सुख का भी रङ्गीन चित्र पाते हैं, जो 'काव्य' में सम्भोग-शृंगार कहलाता है। 'परिरम्भ-कुम्भ की मदिरा' आदि पद्यों की तन्मयता भवभूती की राम-सीता मिलन का निःश्वास छोड़ रही है, कितनी दृढ़, कितनी मधुर! 'प्रिय' के नखशिख वर्णन में यद्यपि सर्वथा नूतनता नहीं है फिर भी 'आँखों की अञ्जन रेखा' के आकर्षण में 'काले पानी की सज़ा' की सूझ 'प्रसाद' के मस्तिष्क में ही उग सकती थी।

'प्रिय' के प्रथम दर्शन में मधुराका की मुस्कुराहट खेल रही थी— इतना सौन्दर्य 'शून्य हृदय' को आत्म-विभोर बनाने के लिए बहुत था। तभी वह एकदम उसके साथ 'एक' हो गया और कहने लगा—

"परिचित से जाने कब के'
तुम लगे उसी क्षण हमको।"

आकर्षण की तीव्रता की यही अनुभूति हो सकती थी। यद्यपि 'अनुभूति' की यही व्यञ्जना पहिले पहल 'प्रसाद' ने नहीं की पर इसमें संदेह नहीं 'अनुभूति' उनकी 'उधार' ली हुई नहीं है। 'विरह' की अवस्था में प्रलाप, निद्रा-भंग, ग्लानि, चिन्ता, मोह, स्मृति, दीनता, व्रीड़ा आदि भावों का 'संचार' 'आँसू' में मिलता है। शास्त्रीय भाषा में ये विप्रलम्भ

'आँसू' में वाह्य-प्रकृति स्वतन्त्र रूप से प्रायः आँखें नहीं खोल सकी; वह अन्तर-प्रकृति से मिलकर उसे खिलाने में सहायक मात्र हुई है।

'सिरस' का फूल 'कुसुमाकर'-रजनी के पिछले पहरों में खिल और प्रातः धूल में मिलकर 'प्रेमी' के मन की रात और प्रातःकालीन अवस्था को ही प्रकट करता है। कवि की दृष्टि प्रकृति के व्यापारों पर जाकर शीघ्र ही अपने में लौट आती है, म नो उसे वहाँ कोई भूली चीज़ याद आ गई हो और उसे पाने को वह विह्वल हो अपने घर की ही छान बीन कर रहा हो। 'रात' का आंशिक वर्णन अवश्य भाव और कल्पनापूर्ण है, उसके स्पर्शहीन अनुभव का स्पन्दन अपूर्व है—

"तुम स्पर्श हीन अनुभव सी,
नन्दन तमाल के तल से।
जग छा दो श्याम-लता सी,
तन्द्रा पल्लव विह्वल से।
सपनों की सोनजुही सब,
बिखरें, ये बन कर तारा।
सित-सरसिज से भर जावे,
वह स्वर्गङ्गा की धारा।"

पर 'प्रसाद' निशा के अमानव रूप पर अपने को अधिक समय तक नहीं ठहरा सके—उन्होंने उसे 'नीलिमा शयन' पर असीन कर 'अपाङ्ग' की चेष्टाओं में रत कर ही दिया—वह एक वैभवशालिनी नेत्रों में कटाक्ष भरी सुन्दरी बनकर चित्रित हो जाती है।

"नीलिमा शयन पर बैठी
अपने नभ के आँगन में
विस्मृति का नील नलिन रस,
बरसो अपाङ्ग के घन से।"

कला-पक्ष

इसमें भावों की अभिव्यक्ति का रूप सामने आता है। भावों की अभिव्यक्ति भाषा द्वारा होती है। तथा भाषा शब्दों से बनती है, जिनके अर्थ की दृष्टि से तीन भेद हैं—(१) वाचक, (२) लक्षक और (३) व्यन्जक। वाचक शब्दों से उनका कोषादि में वर्णित अर्थ प्रगट होता है। लक्षक शब्दों से वाचक अर्थ नहीं, उससे सम्बन्धित रूढ़ि या प्रयोजन से दूसरा अर्थ प्रकट होता है। जो अर्थ वाचक शब्द से प्रगट होता है, उसे शब्दों की अभिधा शक्ति का परिणाम कहा जा सकता है, और जो अर्थ लक्षक शब्दों से जाना जाता है, उसे शब्दों की लक्षणा-शक्ति का फल कहा जाता है। जो अर्थ शब्दों की अभिधा या लक्षणा-शक्ति से प्रगट न होकर प्रसंग, संदर्भ आदिसे प्रगट होता है, उसे व्यञ्जना-शक्ति का परिणाम कहा जाता है। 'आँसू' में शब्दों की लक्षणा-शक्ति से विशेष काम लिया गया है। उसमें हमारे परिचित सृष्टि के सादृश्य और साधर्म्य व्यापारों के साम्य दिये गये हैं। इसे यों भी कह सकते हैं किकवि ने 'सार्वभौमिक प्रतीकों को अधिक अपनाया है'—जैसे सुख दुख के लिये क्रमशः चन्द्रिका और अन्धेरी; भावनाओं के लिये 'कलियों' 'लहर' आदि के प्रभाव साम्य मिलते हैं। प्रथम पद्य ही प्रतीक और लक्षणा के साथ प्रवाहित होता है:—

'इस करुणा कलित हृदय में,
अब विकल रागिनी बजती'

में 'रागिनी' लक्षक शब्द है। हृदय ऐसी चीज़ नहीं है जिसमें 'तार' लगे हों और किसी की अँगुलियों के चलनेसे 'राग' निकले। अतएव जब वाच्यार्थ से अभिलषित अर्थ असंभव हो जाता है तब हमें लक्षण शक्ति का आश्रय लेना पड़ेगा। 'रागिनी' से हम "दुख का पैदा होना" अर्थ लेंगे। 'रागिनी'—"स्वर" का, उसास का—प्रतीक है। इसी प्रकार

"वेदना असीम गरजती" में 'वेदना' कोई शेर नहीं है जो 'गरजे'। अतः लक्षणा से हमें वेदना की अत्यधिक तीव्रता का अर्थ ग्रहण करना पड़ता है।

'ये सब स्फुलिंग हैं मेरी, इस ज्वालामयी जलन के' में 'स्फुलिंग' गरम आँसू का प्रतीक है। स्मृति से हृदय में जलन बढ़ गई। परिणामतः गरम गरम आँसू आँखों से निकलने लगे। अग्नि की चिनगारियाँ स्फुलिंग कहलाती हैं। अतः गरम आँसू और स्फुलिंग का गुण-साम्य होने से 'स्फुलिंग' गरम आँसू का प्रतीक बना लिया गया है। इससे वेदना की गहनता भी व्यञ्जित होती है।

"निर्झर सा झिर झिर करता, माधवी कुञ्ज छाया में।"

'माधवी कुञ्ज' 'प्रिय' का प्रतीक है और 'छाया' 'सान्निध्य' का। 'माधवी कुञ्ज' में कोमलता, सुन्दरता, मोहकता आदि गुणों का समावेश 'प्रिय' के रूप, स्वभाव आदि का द्योतक है। इसमें उपमेय-प्रिय का लोप होकर उपमान ही कथित होने से साध्यवसाना लक्षणा है। 'माधवी कुञ्ज' शब्द-प्रयोग 'प्रिय' के सौन्दर्य की बड़ी सुन्दर प्रतिमा खड़ी कर देता है। 'छिर छिर करता' में लक्षणा से मन के सरस रहने, आनन्दित रहने का भाव लक्षित होता है।

'बाँधा था विधु को किसने, इन काली जञ्जीरों से, में 'विधु' लक्षक शब्द है जिसमें साध्यवसाना अगूढ़ प्रयोजनवती लक्षणा है। 'विधु' का उपमेय 'मुख' पृथक न कहकर उसका अध्यवसान 'रूप' में कर दिया गया है। कवि का प्रयोजन मुख का अधिकाधिक सौंदर्य प्रदर्शित करना स्पष्ट ही है। 'काली जञ्जीरों' से कवि का प्रयोजन "केशों" की श्यामता दिखलाना है। इसमें भी उपमान का ही उल्लेख है, उपमेय 'केशों' का अध्यवसान है। इसलिए यहाँ साध्यवसाना लक्षण लक्षणा है। इसी प्रकार "मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से" में

भी साध्यवसाना लक्षण है। नीलम की नाव निराली' में उपमान मात्र का उल्लेख होने से साध्यवसाना लक्षण है।

'विद्रुम सीपी सम्पुट में, मोती के दाने कैसे ?' में 'मूँगे की सीपी' के वाच्यार्थ से अभिलषित अर्थ स्पष्ट नहीं होता। अतः लक्षणा से मूँगे के समान लाल 'अधर-पुट प्रकट हुआ। चूँकि उपमेय अकथित है इसलिए उसका अध्यवसान उसके उपमान में होने से यहाँ साध्यवसाना लक्षणा हुई।

इसी प्रकार 'दाँत' उपमेय का 'मोती' उपमान में अध्यवसान होने से 'मोती के दाने' में साध्यवसाना लक्षण लक्षणा हुई। लक्षण लक्षणा में लक्षक शब्द अपना अर्थ छोड़कर दूसरा अर्थ देता है। 'मोती के दाने' का जब अर्थ "दाँत" लिया गया तब स्पष्टतः लक्षण लक्षणा है।

'आँसू' के चरण-चरण में लक्षणा—और प्रतीक का कलापूर्ण सौन्दर्य चमककर सहृदय पाठक को चमत्कृत और बहुधा भाव-विभोर बनाता है।

कवि ने स्थूल के सूक्ष्म और सूक्ष्म के स्थूल उपमान भी यत्र-तत्र रखे हैं। साथ ही सूक्ष्म के सूक्ष्म और स्थूल के स्थूल उपमान भी 'आँसू' में पाये जाते हैं।

स्थूल का सूक्ष्म उपमान—

'मादकता से आये तुम, संज्ञा से चले गये थे।'

सूक्ष्म के स्थूल उपमान—

(१) 'मकरन्द **मेघमाला सी** वह स्मृति मदमाती आती।'

(२) क्यों व्यथित **व्योम गंगा सी,** छिटका कर दोनों छोरें।
चेतना तरङ्गिनि मेरी, लेती है मृदुल हिलोरें।

(यहाँ चेतना सूक्ष्म उपमेय का, व्योम गंगा स्थूल उपमान है)

सूक्ष्म के सूक्ष्म उपमान—

(१) प्रतिभा में **सजीवतासी,** बस गई सुछवि आँखों में।'

सुछवि उपमेय (सूक्ष्म) का उपमान सजीवता (सूक्ष्म) है।

(२) 'जो घनीभूत पीड़ा थी, मस्तक में स्मृति सी छाई।'

पीड़ा (सूक्ष्म) का उपमान स्मृति (सूक्ष्म) है।

स्थूल के स्थूल उपमान

(१) 'आकाश दीप सा तब वह तेरा प्रकाश झिलमिल हो'।

(२) काली आँखों में कितनी यौवन के मद की लाली।
मानिक-मदिरा से भर दी किसने नीलम की प्याली।"

(३) काला पानी बेला सी है अञ्जन रेखा काली।

(४) मछली सी आखें

उपमा अलङ्कार के अतिरिक्त रूपक और रूपकातिशयोक्ति के उदाहरण भी अधिक पाये जाते हैं। 'सूर' के समान 'प्रसाद' ने लम्बे लम्बे रूपक बाँधने की चेष्टा नहीं की है। वे दो पंक्तियों में ही सुन्दर रूपक-'चित्र' उपस्थित कर देते हैं :—

(१) 'मुख-कमल समीप सजे थे, दो किसलय से पुरइन के।
जल-बिन्दु सदृश ठहरे कब, उन कानों में दुख किनके!'

'मुख' में कमल का आरोप कर देने के पश्चात कानों को उसके 'पत्ते' कह कर रूपक की सार्थकता सिद्ध की गई है।

(२) 'कामना-सिन्धु लहराता, छवि-पूरनिमा थी छाई।'

(३) 'इस हृदय कमल का घिरना, अलि-अलकों की उलझन में।
आँसू-मरन्द का गिरना, मिलना निश्वास-पवन में।

(४) 'बाडव ज्वाला सोती थी, इस प्रणय-सिन्धु के तल में।'

विरोधाभास—

'शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृग-जल का।'

उदाहरण—

(१) 'जीवन में मृत्युवशी है, जैसे बिजली हो घन में।
"बस गई एक बस्ती है, स्मृतियों की इसी हृदय में।
नक्षत्र-लोक फैला है, जैसे इस नील निलय में।"

'आँसू' में अलङ्कार-योजना प्रायः भावों का उत्कर्ष बढ़ाने में सहायक हुई है। 'प्रायः' इसलिये कि ऐसे भी स्थल हैं जहाँ अलङ्कारों ने भाषा की ही श्री वृद्धि की है।

कला-पक्ष का विवेचन करते समय हमें 'आँसू' के छन्द पर भी विचार करना होगा। 'प्रारम्भिका' में हम इसे अवध उपाध्याय के कथनानुसार "आँसू" छन्द कह चुके हैं पर वास्तव में यह आनन्द-छन्द है जो २८ मात्राओं का होता है जिसमें लेखक प्रत्येक १४ मात्राओं पर विराम होता है। 'प्रसाद' को ही इसे अत्यधिक प्रचलित करने का श्रेय है। 'आँसू' के प्रकाशित होने के पश्चात महादेवी आदि की रचनाओं में बहुत समय तक "आनन्द" छन्द का ही कल-नाद सुनाई दिया। विहारी ने जिस प्रकार 'दोहा' छन्द में भावों का सागर लहराने का यत्न किया उसी प्रकार 'प्रसाद' ने आनन्द छन्द में लक्षणा के सहारे भावों की संहृति प्रदर्शित की है। तभी हमने प्रारम्भ में कहा है कि स्वर्गीय 'प्रसाद' हिन्दी के भावुक कवि और कुशल कलाकार हैं, इसे यदि कोई उनकी एक ही रचना में देखना चाहता है तो उसे 'आँसू' की ओर इङ्गित किया जा सकता है।*

---

* आँसू के पद्यों के भाव भाषा और उनकी कला पर पृथक परिशिष्ट में विचार किया गया है। अतः यहाँ इन पद्यों का सविस्तर विवेचन पिष्ट पेषण के भय से नहीं किया गया।

लहर

'आँसू' के पश्चात् 'लहर' का प्रकाशन हुआ। इसमें समय समय पर विभिन्न विषयों पर लिखी रचनाओं का संग्रह है। प्रवृत्ति की दृष्टि से वे अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनों हैं। अन्तर्मुखी रचनाओं में भी दो भेद हैं—(१) जिनमें 'परोक्ष' के प्रति सङ्केत है और (२) जिनमें लौकिक आलम्बन के प्रति उद्‌गार हैं। बहिर्मुखी रचनाओं में ऐतिहासिक घटनाओं पर भावना केन्द्रित की गई है।

'प्रसाद' जहाँ परोक्ष के प्रति सङ्केत करते हैं, वहाँ उनका 'माधुर्य भाव' उसे नीरस नहीं रहने देता। सच बात तो यह है कि वे 'परोक्ष' को इतना प्रत्यक्ष कर देते हैं कि वह हमारे बीच ही 'आँख मिचौनी' सा खेलता दीख पड़ता है।

'निज अलकों के अंधकार में तुम कैसे छिप आओगे?' में प्रिय के प्रति भौतिक कांक्षा ही दीख पड़ती है जो इन पंक्तियों में स्पष्ट है:—

'सिहर भरे निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो,
वेला बीत चली है चंचल बाहुलता से आ जकड़ो'।

पर कुछ विवेचक आगे 'तुम हो कौन और मैं क्या हूँ' पढ़कर इसमें अदृष्ट के प्रति जिज्ञासा पाते हैं। 'मेरे क्षितिज!' संबोधन से भी 'अलौकिकता' की ओर दृष्टि दौड़ाने की आवश्यकता नहीं है। जो 'अप्राप्य' है वह चाहे लौकिक हो या अलौकिक—'क्षितिज' तुल्य ही है। कवि अपने अप्राप्य 'केन्द्र' को मन में हमेशा बसा रखने को आतुर है। कवि ने—

"तुम हो कौन और मैं क्या हूँ!
इसमें क्या है धरा, सुनो।
मानस जलधि रहे चिर चुम्बित—
मेरे क्षितिज! उदार बनो।"

के पूर्व अपने 'आलम्बन' से 'बाहुलता' में आ जकड़ जाने की मनुहार भी की थी। इस तरह कवि ने अपने आलम्बन में 'परोक्ष' और 'प्रत्यक्ष' को इतना अधिक घुला मिला दिया है कि उनकी 'दुई' ही मिट गई है। इस रचना का सौन्दर्य आलम्बन को 'नारी' रूप में ग्रहण करने से ही खिलता है और इसी रूप में उसमें चित्रात्मकता आती है। 'प्रिय' और 'प्रेमी' की आँखमिचौनी की कितनी मधुर क्रीड़ा है!

संघर्षमयी जगती से खिन्न होकर कवि सर्वथा अन्तर्मुख होना चाहते हैं जब वे गाते हैं—

"ले चल वहाँ भुलावा देकर,
मेरे नाविक ! धीरे धीरे !
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी—
निश्छल प्रेम-कथा कहती हो,
तज कोलाहल की अवनी रे !"

कवि अपने ही वातावरण में 'छल' की साँस बहते देख रुद्ध कण्ठ हो गये हैं—कितनी विरक्ति है इन उद्‌गारों में।

"उस दिन जब जीवन के पथ में" कवि ने गाया तब छलमयी जगती से 'रस' की भीख माँगना उन्होंने छोड़ दिया है। उन्होंने देखा उन्हीं के भीतर रस का सागर लहरा रहा है; इतना अधिक कि वह स्वयं उसे उलीच सकते हैं।

चूँकि यह मुक्तक रचनाओं का संग्रह है इसलिये इनमें स्वभावतः एक ही मानसिक स्थिति की प्रतिध्वनि नहीं है। इसमें बीती मधुमय रातों की उसासें भी हैं।

अधरों में अमन्द राग पिये सोई 'आली' को उषः काल के वैभव को गाकर जगाने की भी हौंस हँस रही है।

'अरी वरुणा की शान्ति कछार', 'जगती की मंगलमयी उषा बन';

'अशोक की चिन्ता', 'शेरसिंह का शस्त्र समर्पण', 'पेशोला की प्रतिध्वनि' और 'प्रलय की छाया' वहिर्मुखी रचनाओं के अन्तर्गत आती हैं। जिनमें गीतात्मकता केवल प्रथम दो रचनाओं में ही है। उनमें वर्णनात्मकता ही प्रधान है।

'लहर' गीतात्मक प्रधान रचनाओं का संग्रह है। अधिकांश वहिर्मुखी रचनाओं में 'स्वच्छन्द' छन्द है। संग्रह की रचनाओं में विभिन्नता स्वाभाविक है पर कवि के मानसिक केन्द्र और उसके प्रति खीझमय विद्रोह की ध्वनि का स्वर पूर्व रचनाओं के स्वर से पृथक नहीं है। पर पहिले जहाँ 'विषाद' का उसमें आधिपत्य दीख पड़ता था वहाँ इनमें अपनी स्थिति से उल्लासमय समझौता प्राधान्य हो गया है।

कामायनी

'कामायनी' 'प्रसाद' का अन्तिम ग्रन्थ है, जिसे अपने युग का 'महाकाव्य' कहा जा सकता है। सुख-दुख के साथ आँखमिचौनी खेलता हुआ जीवन अपनी पूर्णता को लेकर 'महाकाव्य' में उतरता है। कभी चढ़ता, कभी गिरता और कभी सँभलता हुआ वह अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता है। 'साहित्य-दर्पणकार' के अनुसार 'महाकाव्य' 'एक छन्द-बद्ध' रचना है जिसमें आठ से अधिक सर्ग होते हैं; छन्द प्रति सर्गान्त में बदलता है और उसी से उसका अगला सर्ग प्रारम्भ होता है। उसका कथानक धार्मिक या पौराणिक होता है जो प्रारम्भ से अन्त तक शृंखला में जुड़ा रहता है; कथा की एक भी 'कड़ी' टूट जाने से वह बिखर जाता है—उसका प्रवाह ही खंडित हो जाता है। महाकाव्य की अवान्तर कथाएँ मुख्य कथा के विकास में सहायक ही सिद्ध होती हैं। इसमें प्रधान रस शृङ्गार, वीर या शांत होता है; अन्य रस गौण रूप में आते हैं। प्रकृति-वर्णन, संध्या, सूर्य, रात, चंद्रमा, पर्वत, ऋतु, अंधकार, दिवस, वन, समुद्र आदि, संयोग-वियोग, युद्ध, यज्ञ, यात्रा, विवाह, अभ्युदय आदि का वर्णन होता है। नायक उत्तम कुल संभूत धीरोदात्त क्षत्रिय या देवता होता है।

अरस्तू ने भी महाकाव्य (Epic) के तत्वों का निर्देश किया है। उसके मत से उसकी कथावस्तु (plot) में एकता (unity of plot) होनी चाहिए; उसमें एक आधिकारिक 'वस्तु' हो जो प्रारम्भ से अन्त तक शृंखलाबद्ध चलती रहे, प्रासंगिक कथाएँ, मुख्य कथा की सहायक हों। पर, अरस्तु यह भी कहता है कि महाकाव्य की कथावस्तु की शृंखला यदि कुछ शिथिल भी हो तो कोई आपत्ति नहीं है क्योंकि इसमें कथा की नहीं, काव्य की प्रधानता होनी चाहिए। नायक के सम्बन्ध में अरस्तू

और साहित्यदर्पणकार का एक ही मत है। वह भी उसका धीरोदात्त होना आवश्यक समझता है। 'रस' के सम्बन्ध में वह विशेष नहीं कहता। उसने पाठक या श्रोता की करुणा या भय की भावना को जागृत करना ही 'एपिक' और दुखान्त नाटक का लक्ष्य माना है।

महाकाव्य में भाषा-सौन्दर्य को वह देखना चाहता है। उसमें रूपकों का होना वह आवश्यक मानता है। 'कथा' का विस्तार मनमाना किया जा सकता है और उसमें अद्‌भुत घटनाओं का समावेश भी हो सकता है।

'द्विजेन्द्रलाल राय' ने संभवतः अरस्तू की उक्त व्याख्यासे ही प्रभावित होकर कहा है "महाकाव्य एक या एक से अधिक चरित्र लेकर रचे जाते हैं। लेकिन, महाकाव्य में चरित्र-चित्रण प्रसंग मात्र है। कवि का मुख्य उद्देश्य होता है उस प्रसंग क्रम में कवित्व दिखाना। महाकाव्य में वर्णन ही (जैसे प्रकृति का वर्णन, घटनाओं का वर्णन, मनुष्य की प्रवृत्तियों का वर्णन) कवि का प्रधान लक्ष्य होता है, चरित्र उपलक्ष्य मात्र होते हैं। महाकाव्य में घटनाओं की एकाग्रता या सार्थकता का कुछ प्रयोजन नहीं है।"

'साहित्य दर्पण' की रूढ़ व्याख्या की कसौटी पर यदि 'कामायनी' को कसा जायगा तो वह चमक नहीं सकेगी—खरी नहीं उतरेगी। 'कामायनी' ही क्यों; हिन्दी का कोई भी 'महाकाव्य' उसकी व्याख्या की सीमा में अपने को नहीं बाँध पाया।

कवि जब काव्य की सृष्टि करता है तब वह किसी आचार्य की 'व्याख्या' की रेखाओं पर अपने को केन्द्रित नहीं रखता। अतः 'काव्य' की समीक्षा उसके 'काव्यक्षेत्र' में प्रविष्ट होकर—उसकी आत्मा में पैठकर—ही की जा सकती है; बाहरी आकृति उसके मूल्यांकन का माप नहीं बन सकती।

सबसे पहिले हम कामायिनी के कथानक को लेंगे। वह साहित्य दर्पणकार की धारणा के अनुसार ही पौराणिक है—कवि के शब्दों में

'ऐतिहासिक' है। वह वैदिक साहित्य की बिखरी हुई सामग्री से चुना गया है। ऋग्वेद, शतपथ ब्राह्मण, छान्दोग्य उपनिषद्, भागवत आदि में मनु का विभिन्न रूपों में उल्लेख मिलता है।

"जलप्लावन का वर्णन शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड से आरम्भ होता है; जिसमें मनु की नाव के उत्तर गिरि हिमवान प्रदेश में पहुँचने का प्रसंग है। वहाँ ओघ के जल का अवतरण होने पर मनु जिस स्थान पर उतरे उसे मनोरवसर्पण कहते हैं। श्रद्धा के साथ मनु का मिलन होने के बाद उसी निर्जन प्रदेश में उजड़ी हुई सृष्टि को फिर से आरम्भ करने का प्रयत्न हुआ। ('ऋग्वेद' में श्रद्धा और मनु दोनों का नाम ऋषियों की तरह मिलता है। 'श्रद्धा' 'कामगोत्रजा'—काम गोत्र की बालिका—कही गई है।) असुर पुरोहित के मिल जाने से मनु ने पशुबलि की। इस यज्ञ के बाद मनु में जो पूर्व परिचित देव-प्रवृत्ति जाग उठी; उसने इड़ा के सम्पर्क में आने पर उन्हें श्रद्धा के अतिरिक्त एक दूसरी ओर प्रेरित किया। ऋग्वेद में इड़ा को धी, बुद्धि का साधन करने वाली, मनुष्य को चेतना प्रदान करने वाली कहा है। इड़ा के प्रति मनु का अत्यधिक आकर्षण हुआ; श्रद्धा से वे खिंच गए। बुद्धि का विकास, राज्य की स्थापना इत्यादि इड़ा के प्रभाव से ही मनु ने किया, फिर तो इड़ा पर भी अधिकार करने की चेष्टा के कारण मनु को देवगण का कोप-भाजन बनना पड़ा। इस अपराध के कारण उन्हें दण्ड भोगना पड़ा।"

यद्यपि कवि कहते हैं कि उन्होंने कथा-शृंखला मिलाने के लिए कहीं कहीं थोड़ी बहुत कल्पना का भी सहारा लिया है, फिर भी हम देखते हैं, कथावस्तु की 'ग्रंथि' शिथिल रह गई है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार महाकाव्य का कथानक इतना अधिक संगठित होता है कि उसमें से एक भी पद्य के पृथक कर देने से उसमें अस्तव्यस्तता आ जाती है। पर कामायनी में प्रेमचंद के उपन्यासों की तरह एक ही पद्य क्यों, कहीं-कहीं पृष्ठ भी ओझल किए जा सकते हैं, और कथा के टूटने का भय नहीं

रहता। लज्जा' सर्ग यदि सर्वथा लुप्त भी हो जाय तब भी 'कामायनी' के 'प्रबन्ध' में बाधा नहीं उपस्थित होती। सच बात तो यह है कि कथा की क्रमबद्धता पर 'प्रसाद' ने ध्यान ही नहीं रखा। कथा की समाप्ति में भी त्वरा दीख पड़ती है। मनु कुमार ने इड़ा की आँखों में समाकर सारस्वत देश का शासन किस क्रम से किया, विद्रोह का शमन कैसे हुआ, आदि प्रश्न जिज्ञासा ही बने रहते हैं। हम तो उन्हें इड़ा के साथ सहसा कैलाश की ओर प्रभावित मात्र देखते हैं; मानों वे भी जनरव मय संसार से त्राण पाने को व्याकुल हो उठे हैं।

कामायनी की 'कथा' में 'काम' के शाप ने उनमें गति प्रदान की है। 'मनु' को अप्रत्याशित संकटों और व्यामोह की अवस्था में पहुँचाने में मानो वही प्रच्छन्न होकर कार्य कर रहा था।

'इड़ा' की बिखरी अलकों में जब 'मनु' का मन उलझ गया तो वे यह भी भूल गए कि वह 'भावना' नहीं थी जो उनके माँसल अंगों पर 'विछलने' वाले भावावेश को देखकर ही सिहर उठती; वह 'तर्कजाल' थी; शासित होना नहीं चाहती थी। इसीलिए—

"आलिंगन! फिर भय का क्रन्दन! वसुधा जैसे काँप उठी!
वह अतिचारी, दुर्बल नारी, परित्राण पथ नाप उठी!
अंतरिक्ष में हुआ रुद्र हुंकार भयानक हलचल थी,
अरे आत्मजा प्रजा! पाप की परिभाषा बन शाप उठी।"

मनु की इड़ा की ओर रुझान भी समाज की व्यवस्था को पलटने वाली थी। 'आत्मजा प्रजा' में केवल 'नारी' देखकर मनु के 'नर' ने ज्योंही 'आलिंगन' की शिथिल चेष्टा की; 'अन्तरिक्ष का दैवी कोप उन पर बरस पड़ा—'शिव' के तृतीय नेत्र से ज्वालाएँ फैलने लगीं।

'काम' के 'शाप' ने कथानक में 'अशिवत्व' का प्रवेश नहीं होने दिया। 'मनु' का प्रत्येक कृत्य उसी की छाया से अभिभूत है; अतः क्षम्य है। 'श्रद्धा' के पुनर्मिलन के बाद से 'शाप' का प्रभाव हट जाता है और मनु

'चाँद' 'रजत कुसुम' सा है और उसकी 'चाँदनी' पराग सी। चारों ओर उसका छिटकना 'धूल' सा उड़ता प्रतीत होता है। ज्योत्स्ना का यह रूप इतना मादक है कि स्वयं 'रात' भूली सी लगती है। 'रात' का यह मानवीकरण कितना सजीव होकर खिल उठा है! 'चाँदनी' की रजत कुसुम (चाँद) के 'नवपराग' से उपमा सम्भवतः हिन्दी में प्रथम बार ही दी गई है!

'तारों भरी' 'रात' का और भी चित्र देखिए—

"पगली हाँ सम्हाल ले कैसे
छूट पड़ा तेरा अंचल;
देख, बिखरती है मणिराजी
अरी उठा बेसुध चंचल।
फटा हुआ था नील वसन क्या
ओ यौवन की मतवाली!
देख अकिंचन जगत लूटता
तेरी छवि भोली-भाली!"

'हिमालय' और 'कैलाश' के पर्वत भी सप्राण हैं। 'प्रलय' की कल्पना भी भव्य है, भयानक है—

"धँसती धारा, धधकती ज्वाला,
ज्वाला-मुखियों के निश्वास;
और संकुचित क्रमशः उसके
अवयव का होता था ह्रास।"

यह सच है कि 'प्रसाद' की स्थायी प्रेममयी भावना 'नारी चित्र' को विस्मृत नहीं कर पाती। आकाश से पिंडों का खंड-खंड होकर निपात हो रहा है। पृथ्वी भूकम्प से काँप रही है। कवि की कल्पना भयभीता रमणी की ओर दौड़ जाती है—

"बार बार उस भीषण रव से
कँपती धरती देख विशेष,
मानो नील व्योम उतरा हो
आलिंगन के हेतु अशेष।"

केवल प्रकृति का वर्णन मात्र 'प्रसाद' में कम मिलता है, वे तो उसे सजीव ही देख सकते हैं; मनुष्य की भावनाओं से उल्लसित या विषादमयी।

समुद्र किनारे की जलसिक्त थोड़ी सी 'धरती' का चित्र भी सुहाग रात की व्यथित स्मृति लेकर बिखरी बैठी 'वधू' के रूप में प्रस्तुत है—

"सिन्धु सेज पर धरा वधू अब
तनिक संकुचित बैठी सी;
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में
मान किये सी ऐंठी सी!"

'प्रसाद' जड़ को चेतन में और 'मानव' के रूप में देखने के अभ्यासी हैं। यही तादात्म्य स्थापन की विह्वलता उनकी रहस्यमयी प्रवृत्ति की द्योतक है। 'रहस्यवादी' भी क्या चाहता है? वह जड़ और चैतन्य की 'दुविधा' को मिटा देना चाहता है!

प्रकृति के अतिरिक्त 'प्रसाद' ने अन्य स्थितियों के भी स्पष्ट चित्र अंकित किए हैं। 'मनु' विशाल लम्बा पुरुष है --

"अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार;
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार।"

मनु के पौरुष शक्तित दृढ़ शरीर से जो सौरभ बहता था* उसी ने,

* हठयोग की पुस्तकों में कहा गया है कि स्वस्थ शरीर के प्रस्वेद से कमलवाली गंध बहती है जो आकर्षण की शक्ति रखती है।

कुंचित अलकों सी घुँघराली
मन की मरोर बन कर जगती।"

कवि ने 'लज्जा' के विषय में ठीक ही कहा है कि यह सदा हृदय में स्मृति को ध्यान जगाए रहती है। और यही 'स्मृति' जीवन को अन्त तक मग्न बनाए रहती है।

'सत्य' की परिभाषा कवि ने कितनी सुनिर्णीत की है—

"और सत्य ! यह एक शब्द तू
कितना गहन हुआ है;
मेधा के क्रीड़ा-पिञ्जर का
पाला हुआ सुआ है।"

मनुष्य अपनी ही 'इच्छा' को 'सत्य' सिद्ध कर लेता है। वास्तव में वस्तुतः ही सत्य है, यह कहना कठिन है—

"सब बातों में खोज तुम्हारी
रट सी लगी हुई है;
किन्तु स्पर्श से तर्क करों के
बनता 'छुई मुई' है।"

अंतर्वृत्तियों का चित्रण भी कई स्थानों पर बड़ा आकर्षक है।

मनु श्रद्धा को पाकर संसार में कुछ पाना नहीं चाहते पर श्रद्धा मनु की हिंसा प्रवृत्ति से खिन्न हो 'अलग जा बैठी है'। मनु सोचने लगते हैं—

"जिसमें जीवन का संचित सुख
सुन्दर मूर्त बना है!
हृदय खोल कर कैसे उसको
कहूँ कि वह अपना है!"

उन्मुक्त हृदय से मनु 'श्रद्धा' को अपनी कहने में इसीलिए झिझकते हैं कि श्रद्धा के मन का तादात्म्य उनके मन से पूर्ण रूप से नहीं होने पाया। 'श्रद्धा' के मन की उलझन भी दर्शनीय है।

उसके हृदय में मनु के प्रति अनुरक्ति है जिसमें रति और प्रेम दोनों का समावेश है। रति वह भाव कहलाता है जो शरीर पर प्यार करता है और प्रेम मानसिक भावना है जो व्यापक है। 'श्रद्धा' ने 'मनु' के विशाल वक्षस्थल और तेजपूर्ण 'शरीर' पर स्वयं आत्मसमर्पण कर दिया था। चेतना के क्षणिक 'स्खलन' को वह प्रमाद समझती है फिर भी जब 'मनु' की आँखों में मतवाली छलकन उसे दीख पड़ती है तो वह अपना तर्क खो देती है—उसकी पलकें नशीली बन झपने लगती हैं—वह मनु की भुजाओं में अपने को सौंप देती है, स्वयं 'खो' जाती है। फिर वह यह नहीं सोचती—

"कितना दुःख जिसे मैं चाहूँ
वह कुछ और बना हो;
मेरा मानस चित्र खींचना
सुन्दर सा सपना हो।"

फिर तो वह स्वयं अपने को समझा लेती है।

"जिसके हृदय सदा समीप है
वही दूर जाता है;
और क्रोध होता उस पर ही
जिससे कुछ नाता है।"

कभी कभी मनुष्य के मुख से भावी सत्य बोल उठता है। श्रद्धा मनु के साथ मादक लहरों में बहते समय कह उठती है—

"कल ही यदि परिवर्त्तन होगा
तो फिर कौन बचेगा;
क्या जाने कोई साथी बन
नूतन यज्ञ रचेगा!"

हम देखते हैं 'मनु' 'श्रद्धा को छोड़कर चले जाते हैं और 'इड़ा' के साथ नया जीवन यापन करते हैं; यद्यपि 'इड़ा' को सर्वथा अपनाने में वे

समर्थ नहीं होते। जब नारी में प्यास विद्युत सी उठती है, तब व्यक्ति अपने अस्तित्व को भूल नहीं जाता, भूलने की घोषणा अवश्य करता है। पुरुष की आँखों में उस क्षण स्त्री अत्यधिक रूपमयी हो जाती है। 'मनु' के मन में जब 'वासना' लहर उठती है, वे श्रद्धा को लक्ष्य करते हैं—

"कहा मनु ने तुम्हें देखा अतिथि ! कितनी बार;
किन्तु इतने तो न थे तुम दबे छवि के भार !"

और भी—

"तुम अधीर, अधीर इतने
आज क्यों हो प्राण !
छक रहा है किस सुरभि से
तृप्त होकर घ्राण !"

मनु 'वासना' से उन्मत्त होकर 'श्रद्धा' को सबसे अधिक सम्मान देने को प्रस्तुत हैं—

"आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान।
विश्व रानी ! सुन्दरी ! नारी जगत की मान।"

पुरुष स्त्री का सर्वस्व हरण करना चाहता है। अतः उसकी चाटु-कारिता भरी आतुरता देखिए। कितनी त्वरा में वह उसे एक साथ ही तीन तीन सम्बोधनों से आत्मविभोर बनाना चाहता है—प्रसन्न पुलक से भर देना चाहता है।

विश्व रानी ! सुन्दरी !! नारी जगत की मान !!!

बेचारी नारी, भोली नारी, कोमल नारी ! इतने शब्द-माधुर्य का भार कब तक वहन करती ?

"स्पर्श करने लगी लज्जा ललित कर्ण कपोल,
खिला पुलक कदंब सा था भरा गद्गद बोल।"

फिर तो 'प्रसाद' उसे चेतना के द्वार पर ले जाकर इस निष्ठुर सत्य का उद्घाटन उसके मुख से ही कराते हैं—

"किन्तु चोली क्यों समर्पण आज का हे देव !
बनेगा चिर-बंध नारी हृदय हेतु सदैव।
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान !
वह, जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान !"

कवि ने श्रद्धा और मनु का मनोवैज्ञानिक ढंग से नारी और पुरुष के रूप में मिलन कराया है। एक बार पुरुष के आगे आत्मसमर्पण कर देने पर स्त्री अपनी सत्ता पुरुष से पृथक् नहीं रख सकती। तभी 'श्रद्धा' 'लज्जा' से कहती है—

"मैं जभी तोलने का करती
उपचार स्वयं तुल जाती हूँ;
भुज लता फँसा कर नर तरु से
झूले सी झोंके खाती हूँ।"

मैं जब जब अपने को सँभालने का प्रयत्न करती हूँ तो स्वयं बेसँभाल बन जाती हूँ। वह अनुभव करने लगती है कि मुझे तो केवल 'उत्सर्ग' ही करना है। उसका प्रतिकार पाने की आशा मुझे नहीं करनी चाहिए। यही बात 'काम' ने भी मनु से कही है—

"मनु ! उसने तो कर दिया दान,
वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमें जीवन का भरा मान;
जिसमें चेतना ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान।"

लज्जा तभी कहती है—

"नारी ! तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में;
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।"

सुख-दुःख, पाप-पुण्य सभी को हँसते रोते नारी सहती है। श्रद्धा को प्रसाद ने सहृदयता, सुन्दरता और सात्विकता के प्रतीक के रूप में प्रस्तुत

किया है। मनु के परित्याग के पश्चात् भी वह उसे मन से नहीं त्याग सकी—

"रुक जा, सुन ले ओ निर्मोही!
यह कहती रही अधीर श्रान्त।"

स्वप्न में वह 'निर्मोही' को इड़ा के प्रति आकर्षित देखती है—संकट में घिरा देखती है तो विकल हो जाती है, खोज में निकल पड़ती है और 'इड़ा' से पता पा लेती है। 'इड़ा' के कारण ही उसके 'निर्मोही' की दुर्गति हुई अतः वह खीझकर कहती है—

"सिर चढ़ी रही! पाया न हृदय,
तू विकल कर रही है अभिनय।"

श्रद्धा के इस कथन पर आपत्ति उठाते हुए स्वयं पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा था—"श्रद्धा इड़ा से कहती है कि 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय।' क्या श्रद्धा के सम्बन्ध में नहीं कहा जा सकता 'रस पगी रही पाई न बुद्धि'। जब दोनों अलग अलग सत्ताएँ करके रखी गई हैं तब एक को दूसरी से शून्य कहना और दूसरी को पहिली से शून्य कहना गड़बड़ में डालता है।" पर श्रद्धा ने मन की जिस अवस्था में 'इड़ा' को उलाहना दिया उससे कोई गड़बड़ी नहीं पैदा होती। "कामायनी" केवल मनोवृत्तियों पर लिखे गए निबन्धों का संग्रह नहीं है, वह प्रबन्ध-काव्य है, कथा को लेकर चलने वाला। जिसमें कवि ने चरित्र-चित्रण का भी थोड़ा बहुत विचार रखा है। श्रद्धा के उक्त कथन से भी इड़ा और श्रद्धा के प्रकृति-भेद में कोई शंका नहीं होती। मनुष्य किसी का स्वभाव जानकर भी तो विषम परिस्थिति में—ऐसी परिस्थिति में जिसके निर्माण में उसका हाथ है, उसे उसकी अनिष्टकारी प्रकृति पर भला-बुरा कहता है, इड़ा को तर्क की लहरें 'गिनने वाली' जानकर भी श्रद्धा अपने आवेग को बहुत स्वाभाविक रीति से प्रकट करती है—

"सिर चढ़ी रही पाया न हृदय।"

इड़ा 'बुद्धि' का प्रतीक होकर भी 'नारी' है, वह पुरुष की वासना-वेग में बहती नहीं है पर एक बार उसका हृदय अपनी निष्ठुरता पर 'धक् धक्' होने लगता है। उसकी अन्तर्वेदना उसके श्रद्धा को कहे गए शब्दों से प्रकट होती है—

"तिस पर मैंने छीना सुहाग हे देवि! तुम्हारा दिव्य-राग;
मैं आज अकिंचन पाती हूँ अपने को नहीं सुहाती हूँ;
मैं जो कुछ भी स्वर गाती हूँ, वह स्वयं नहीं सुन पाती हूँ।"

वह मन ही मन अनुभव करती है कि उसकी निष्ठुरता ने ही 'मनु' को विक्षिप्त बना डाला है। जब मनुष्य अपने कृत्यों पर ग्लानी से भर जाता है तो वह 'अपने को ही नहीं सुहाता !' 'घृणा से ममता' की उलझन भरी चिन्तन में उसकी न जाने कितनी रातें बीत चुकी हैं। नारी का वह हृदय था जिसमें 'सुधा-सिंधु' लहरें लेता है और वाडव ज्वाला भी उसी में जलती है। उसमें 'क्षमा और प्रतिशोध'—दोनों की माया नृत्य करती है। प्रेम वहीं 'अपराध' बन जाता है जब वह सभी सीमाओं को तोड़ने के लिए मचल उठता है। 'मनु' को इस सीमोल्लंघन-चेष्टा के लिए कष्टों की भट्ठी में जलना पड़ा।

'श्रद्धा' में 'इड़ा' के प्रति खीझ-रोष का भाव अवश्य है, ईर्ष्या का नहीं। 'श्रद्धा' का सचमुच आदर्श चरित्र है। उसमें भारतीय नारीत्व का उज्ज्वलतम रूप देदीप्यमान हो रहा है। 'श्रद्धा' अपने सौम्यकुमार को 'इड़ा' को सौंप देती है; और आशा करती है कि दोनो के सम्मिलन से मानव का भाग्योदय होगा। 'इड़ा' श्रद्धा के इस प्रस्ताव को शीघ्र स्वीकार कर लेती है और मनु के 'कुमार' के साथ उसका तादात्म्य हो भी जाता है।

'मनु' के चरित्र के सम्बन्ध में हम पहले किसी प्रकरण में लिख चुके हैं। वे 'आदर्श' पुरुष नहीं हैं; उनमें नैतिक बल की कमी है, परिस्थिति से प्रभावित हो जाना उनका स्वभाव है। उनकी ईर्ष्या अस्वाभाविकता

की पराकाष्ठा तक पहुँच गई है। आदि पुरुष की दृढ़ता और नेतृत्व का उनमें अभाव है; 'स्त्री' के इशारों पर थिरकना भर वे जानते हैं; उनमें स्वयं कर्त्तव्य-शक्ति नहीं है। वे स्वयं स्वीकार करते हैं—

"साहस छूट गया है मेरा। निस्संबल भग्नांश पथिक हूँ

....

लौट चलो इस वात चक्र से मैं दुर्बल अब लड़ न सकूँगा।"

श्रद्धा ही उनमें 'बल' और 'साहस' बढ़ाती है। कवि ने 'पुरुष' को स्त्री के बिना सर्वथा निरालम्ब, निराश्रय बतलाया है। 'स्त्री' को सर्व-शक्तिमयी स्फूर्ति-प्रतिमा और पुरुष के आधार से स्वतंत्र चित्रित किया है। इसमें स्त्री के गौरव की उच्च स्वर में घोषणा भले ही सुन पड़े पर वास्तविकता इसी में है. 'समरसता' इसी में है कि जिस प्रकार पुरुष स्त्री के बिना अपूर्ण है उसी प्रकार स्त्री पुरुष के बिना पूर्णता नहीं प्राप्त कर सकती। 'प्रसाद' ने चित्र के एक ही भाग में गहरा रंग भरकर 'स्त्री' को 'सर्वगुण सम्पन्ना' दिखाकर 'तुला' की 'डाँडी को एक ओर ही झुका दिया है।

यह चर्चा हमने मनु, इड़ा और श्रद्धा के वर्णित आख्यान को दृष्टि में रखकर की है। उनके सांकेतिक रूप पर विचार करने से मनु के 'श्रद्धा' और 'इड़ा' दो अंग हैं—दूसरे शब्दों में क्रमशः भावना और बुद्धि। सांसारिक संघर्ष में 'भावना' का नहीं; 'बुद्धि' का सहारा लेना पड़ता है, पर जहाँ आत्मिक उत्कर्ष की कामना है, वहाँ बुद्धि का सर्वथा परित्याग किया जा सकता है; केवल श्रद्धा—भावना ही हमें सुख लोक में ले जा सकती है। श्रद्धा से हम सहज विश्वासी बन जाते हैं।

कामायनी में 'दर्शन'

'कामायनी' में मानव जीवन का सनातन सत्य भी अभिव्यक्त हुआ है। आध्यात्मिक साधना मनुष्य की 'वासनाओं' की तृप्ति के पश्चात ही

संभव होती है—सफल होती है। प्रारम्भ ही में संसार से एकदम आँख मूँद कर 'भीतर का रहस्य' नहीं दिखाई पड़ता। 'बाहर' आँख खोलकर देख चुकने पर ही अन्तर के पट खुलते हैं और 'शिव' के 'दर्शन' होते हैं। 'प्रसाद' ने अपने साहित्य में यत्र-तत्र 'समरसता' का उल्लेख किया है। यह शैवदर्शन का शब्द है।

शैवदर्शन 'अद्वैतवाद' से दूर नहीं है। 'आगम' में 'अद्वैत' का अर्थ दो का नित्य सामरस्य है।

... एक शास्त्रकार कहते हैं—

"इति वायस्य संवित्तिः क्रीडात्वे नाखिलं जगत्।
संपश्यन् सततं युक्तो जीवन्मुक्तो न संशयः॥"

'जीवन्मुक्त' जगत भर को ही आत्मविलास के रूप में देखते हैं; उनकी योगावस्था कभी भग्न नहीं होती। भेद और अभेद, व्युत्थान और निरोध दोनो के अन्दर साम्यदर्शन होने पर और कोई आशंका नहीं रह जाती। क्योंकि दोनों एक ही के दो प्रकार हैं। इसी को शिवशक्ति का सामरस्य या चिदानन्द की प्राप्ति कहते हैं। यही 'ईश्वराद्वयवाद' की विशिष्टता है। यह न तो शुष्क ज्ञानमार्ग है और न ज्ञानहीन भक्तिमार्ग ही—इसमें ज्ञान और भक्ति दोनों का सामञ्जस्य है। चिदंश ज्ञान भाव है और आनन्दांश भक्ति है। परमतत्त्व स्वातंत्र्यमय है, स्वतंत्रता ही पूर्ण शक्ति है। इसी कारण इस मत में चरमावस्था में भी शिवशक्ति का सामरस्य माना गया है। शिव और शक्ति अभिन्न हैं। 'कामायनी' में शंकर का वह 'अद्वैत' नहीं है जो 'जगत को मिथ्या' मानता है। उसे 'भोग्य' वस्तु माना गया है। कवि अपने 'मैं' को जगत के साथ 'एक' कर देने को आतुर है। अद्वैतवादी 'ज्ञान' के द्वारा परम तत्व को प्राप्त करना चाहता है, 'प्रसाद' प्रेम, श्रद्धा या भक्ति द्वारा। प्रेम, श्रद्धा या भक्ति का मार्ग 'आनन्द' का है। 'प्रसाद' ने कामायनी में 'ज्ञान' और 'भक्ति' दोनों की समरसता प्रस्थापित की है। अतः प्रसाद का 'आनन्द-

वाद' अद्वैतवाद की अपेक्षा प्रत्यभिज्ञादर्शन के ईश्वाद्वयवाद' के अधिक निकट है।

'कामायनी' में कोई 'शक्ति' की प्रधानता इसलिये मानते हैं कि शक्ति की प्रतीक 'श्रद्धा' से ही मनु को परम तत्व आनन्द की प्राप्ति होती है पर जब शिव और शक्ति अभिन्न हैं तब 'शिव' की प्रधानता या 'शक्ति' की प्रधानता—दोनों समान हैं। श्रद्धा स्वयं 'आनन्द' है और 'शिव' आनन्दमय हैं। शैवागमों में जगत से विमुखता नहीं दिखलाई गई है, शाक्त जिस प्रकार उसका पूर्णोपभोग करता है, उसी प्रकार 'कामायनी' में 'भोग-तत्व' का समादर पाया जाता है। जीवन के व्यवहार-पक्ष से ही वे आदर्श तक पहुँच सके हैं। अतः उनका जीवन-दर्शन किसी एक ही "शास्त्र" की परिभाषा में नहीं सिमट सका। ईशावास्योपनिषद के प्रथम मन्त्र के अनुरूप उन्होंने जगत के सभी तत्वों में भगवान् की सत्ता अनुभव की, उसको 'योग'—'आनन्द' का साधन माना। इस तरह जीवन को आनन्दमय बनाना ही उनका 'दर्शन' है। 'श्रद्धा' का सम्पर्क 'आनन्द' का स्रोत प्रवाहित करता है। जब 'श्रद्धा' गर्भवती होने पर अपने 'पुत्र' के स्वप्न में भूलने लगती है, मनु को अपने 'आनन्द' का रस सूखता दिखाई देता है। वे 'आनन्द' की खोज में भाग निकलते हैं और सारस्वत प्रांत में 'इड़ा' के सान्निध्य में उसे खोजना चाहते हैं। और जब 'इड़ा' से भी उन्हें 'आनन्द' नहीं मिलता तो वे मर्माहत हो जाते हैं और वहाँ से भी भाग जाते हैं। अन्त में श्रद्धा के सहारे वे परमानन्द की प्राप्ति करते हैं। इस तरह कामायनी में 'आनन्द' ही जीवन है और जीवन ही आनन्द का सिद्धान्त प्रतिपादित लक्षित होता है। पर 'प्रसाद' का भोग या आनन्दवाद समाज में विशृङ्खलता उत्पन्न करने वाला नहीं है। 'इड़ा' पर मनु के बल-प्रयोग की चेष्टा से जो हाहाकार मचा उसने 'मनु' को उस 'आनन्द' से वंचित कर दिया जिसे पाने का उन्हें सामाजिक अधिकार नहीं था। इस प्रकार

है, उनका समस्त काव्य उसके ही प्रकाश मे आलोकित है—उसका प्रेम, उसकी वासना, उसकी अतृप्ति, उसकी ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, करुणा, क्षमा, उदारता, वीभत्सता—सभी उसमें अपनी सार्थकता और नित्यता की साक्षी दे रहे हैं। 'आज का मनुष्य क्या है', यह तो उनके काव्य में वर्णित है ही, उसे 'क्या होना चाहिये', इसकी ओर भी उन्होंने दृढ़ आग्रह दिखाया है।

हाँ, एक बात छूटी जा रही है। 'कामायनी' में युग की अवस्था-विशेष का आरोप करने के लिए हाल ही जो "अनुसंधान" सामने आ रहे हैं, उनमें दिल्ली की सल्तनत, अवध राज्य आदि का सामन्ती शासक-वर्ग देवताओं, प्रकृति बाहरी पूँजीवाद (अंग्रेज आदि) और सामन्ती समाज रचना में क्रान्ति तथा ध्वंस का प्रतीक बताया जा रहा है। पर इन प्रतीकों का पूरा निर्वाह नहीं हो पाता। कवि ने अपनी भूमिका में अपने प्रतीकों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। मनुष्य अपने बुद्धि-कौशल से तो तुलसीदास की 'ऋष्यमूक पर्वत नियराई' में 'नियर' को पकड़कर कवि को आंग्ल भाषा से परिचित सिद्ध कर सकता है। कवि की दूरारूढ़ कल्पना के समान ही आलोचकों की ऐसी नई खोजों से केवल मनोरंजन हो सकता है—कवि को समझने में सहायता नहीं मिल सकती।

परिशिष्ट (क)

'आँसू' की 'पंक्तियों' पर प्रकाश

इस करुणा से भरे हृदय में अब विकलता छा गई है। और पता नहीं, क्यों बेहद वेदना बढ़ गई है? हृदय में दुख की स्थिति तो थी ही पर कवि कहते हैं कि उसमें अब दर्द की तीव्रता क्यों अनुभव होने लगी? इस प्रश्न का उत्तर कवि ने आगे की ही पंक्तियों में दे दिया है।

× × ×

उनके मन में भूली बीती बातों की स्मृति जाग उठी है और वही स्मृति मन के पर्दे पर बाराबर धीरे-धीरे टकरा रही है, पहिली दो पंक्तियों में कवि प्रश्न करते हैं कि मानस-सागर के किनारे पर भाव-लहरें क्यों टकरा रही हैं? 'लोल' शब्द कहता है कि स्मृतियाँ एक के बाद एक बड़ी शीघ्रता से उठ रही हैं और मन पर धक्के मार रही हैं। परन्तु उन स्मृति-लहरों का आघात भी मधुर है, तभी उनकी 'कल-कल' ध्वनि है।

× × ×

कवि की स्मृति-वेदना 'हाहाकार' स्वरों में मुखरित हो जाती है पर यह चीत्कार उन्हीं तक मँडराकर रह जाता है। जिसके प्रति वह उन्मुख होता है उस तक पहुँच ही नहीं पाता। ऐसा प्रतीत होता है, कवि का 'प्रिय' इस लोक में नहीं रहा। जिसके साथ उन्होंने मिलकर प्रेम का मादक प्याला पिया था, वह (प्याला) अब उनके हाथ में अकेला ही रह गया है—उसकी रिक्तता से वे रह-रह व्यथित हो उठते हैं। उनका उत्पीड़न 'अरण्य रोदन' बन गया है, जो बाहर प्रकट होकर उनकी आन्तरिक अवस्था को सारे संसार और आकाश तक में भर देता है पर उसका कोई प्रत्युत्तर उन्हें नहीं मिलता। वे अपने करुण आलाप को स्वयं सुना करते हैं। उनके आँसुओं के साथ आँसू बहानेवाला और

है, उनका समस्त काव्य उसके ही प्रकाश मे आलोकित है—उसका प्रेम, उसकी वासना, उसकी अतृप्ति, उसकी ईर्ष्या, घृणा, क्रोध, करुणा, क्षमा, उदारता, वीभत्सता—सभी उसमें अपनी सार्थकता और नियता की साक्षी दे रहे हैं। 'आज का मनुष्य क्या है', यह तो उनके काव्य में वर्णित है ही, उसे 'क्या होना चाहिये', इसकी ओर भी उन्होंने दृढ़ आग्रह दिखाया है।

हाँ, एक बात छूटी जा रही है। 'कामायनी' में युग की अवस्था-विशेष का आरोप करने के लिए हाल ही जो "अनुसंधान" सामने आ रहे हैं, उनमें दिल्ली की सल्तनत, अवध राज्य आदि का सामन्ती शासक-वर्ग देवताओं, प्रकृति बाहरी पूँजीवाद (अंग्रेज आदि) और सामन्ती समाज रचना में क्रान्ति तथा ध्वंस का प्रतीक बताया जा रहा है। पर इन प्रतीकों का पूरा निर्वाह नहीं हो पाता। कवि ने अपनी भूमिका में अपने प्रतीकों का स्पष्ट उल्लेख कर दिया है। मनुष्य अपने बुद्धि-कौशल से तो तुलसीदास की 'ऋष्यमूक पर्वत नियराई' में 'नियर' को पकड़कर कवि को आंग्ल भाषा से परिचित सिद्ध कर सकता है। कवि की दूरारूढ़ कल्पना के समान ही आलोचकों की ऐसी नई खोजों से केवल मनोरंजन हो सकता है—कवि को समझने में सहायता नहीं मिल सकती।

परिशिष्ट (क)

'आँसू' की 'पंक्तियों' पर प्रकाश

इस करुणा से भरे हृदय में अब विकलता छा गई है। और पता नहीं, क्यों बेहद वेदना बढ़ गई है ? हृदय में दुख की स्थिति तो थी ही पर कवि कहते हैं कि उसमें अब दर्द की तीव्रता क्यों अनुभव होने लगी ? इस प्रश्न का उत्तर कवि ने आगे की ही पंक्तियों में दे दिया है।

× × ×

उनके मन में भूली बीती बातों की स्मृति जाग उठी है और वही स्मृति मन के पर्दे पर बाराबर धीरे-धीरे टकरा रही है, पहिली दो पंक्तियों में कवि प्रश्न करते हैं कि मानस-सागर के किनारे पर भाव-लहरें क्यों टकरा रही हैं ? 'लोल' शब्द कहता है कि स्मृतियाँ एक के बाद एक बड़ी शीघ्रता से उठ रही हैं और मन पर धक्के मार रही हैं। परन्तु उन स्मृति-लहरों का आघात भी मधुर है, तभी उनको 'कल-कल' ध्वनि है।

× × ×

कवि की स्मृति-वेदना 'हाहाकार' स्वरों में मुखरित हो जाती है पर यह चीत्कार उन्हीं तक मँडराकर रह जाता है। जिसके प्रति वह उन्मुख होता है उस तक पहुँच ही नहीं पाता। ऐसा प्रतीत होता है, कवि का 'प्रिय' इस लोक में नहीं रहा। जिसके साथ उन्होंने मिलकर प्रेम का मादक प्याला पिया था, वह (प्याला) अब उनके हाथ में अकेला ही रह गया है—उसकी रिक्तता से वे रह-रह व्यथित हो उठते हैं। उनका उत्पीड़न 'अरण्य रोदन' बन गया है, जो बाहर प्रकट होकर उनकी आन्तरिक अवस्था को सारे संसार और आकाश तक में भर देता है पर उसका कोई प्रत्युत्तर उन्हें नहीं मिलता। वे अपने करुण आलाप को स्वयं सुना करते हैं। उनके आँसुओं के साथ आँसू बहानेवाला और

मेरे हृदय में अनेक स्मृतियाँ छाई हैं। जिस प्रकार नीलाकाश में फैले हुए नक्षत्र समुदाय को नहीं गिना जा सकता—उसकी संख्या निर्धारित नहीं की जा सकती उसी प्रकार मेरे सुख-दुखमय जीवन की स्मृतियों की संख्या का अनुमान नहीं लगाया जा सकता। ऐसा मालूम होता है मानो मेरे हृदय में ही आकाश छा गया हो। हृदय को 'नील निलय' (नीला स्थान) इसलिये कहा है कि वह एक तो शून्य है आकाश ही की तरह और दूसरे वह निराशा से परिपूर्ण है—निराशा अंधकार के समान है और अंधका का वर्ण 'नील' कहा जा सकता है।

× × ×

हृदय में जो ज्वालामयी जलन है—'प्रिय' की स्मृति—चिनगारियाँ हैं—वही गरम 'आँसू' बनकर गिर रही हैं। आँसू प्रिय की स्मृति में ही बह रहे हैं। अतएव यह प्रकट कर रहे हैं कि कवि का 'उनसे' कभी मिलन हुआ था। जो इन पंक्तियों में आध्यात्मिकता का आभास पाते हैं, वे कहते हैं कि आत्मा परमात्मा पहिले 'एक' थे। अब जो आँसू गिर रहे हैं वे आत्मा की वियोग-वेदना के अंगारे ही हैं; हम इन पंक्तियों में हठात् 'आत्मा-परमात्मा' का साम्प्रदायिक अर्थ आरोपित नहीं करना चाहते। 'प्रिय' का अन्तिम मिलन प्रेमी के लिए 'महामिलन' ही है। अतः उसके वियोग में स्मृति का जल उठना और गरम-गरम आँसुओं का ढरकने लगना लौकिक अनुभूति का परिचित विषय है।

× × ×

पृष्ठ १०—हृदय में विरहाग्नि जल रही है, पर मुझे यह जलन भी शीतलता प्रदान करती है—सेहत देती है। इसीलिए 'ज्वाला' शीतल है। चूंकि मैं प्रिय के अभाव में जी रहा हूँ—साँसें ले रहा हूँ, इसलिए मेरी वेदना बढ़ ही रही है। मेरी साँसें जिनका उनके अभाव में चलना व्यर्थ प्रतीत होता है, समीर का ही काम करती हैं। जिस प्रकार हवा के झोंकों से आग की लपटें बढ़ती हैं, उसी तरह मेरे हृदय की वेदना की

अभावमय हृदय में उथल-पुथल मची हुई है; जिसे अपने शरीर को (धरणी, शरीर की द्योतक है) सँभालने तक की सुधि नहीं है। अतः उसके केश आकाश में बिखरे हुए से, खुले हुए दिख रहे हैं। शरीर की बेसँभाल अवस्था, मन की अत्यंत तीव्र व्याकुलता प्रकट करती है। व्यक्ति की आँखों से आँसू झर-झर झर रहे हैं, जिनसे ऐसा प्रतीत होता है मानों हृदय-समुद्र के बुलबुले ही फूटकर आँखों से बाहर निकल पड़े हैं; अथवा नक्षत्रों की माला ही टूट पड़ी है। (प्रथम दो पंक्तियों में उत्प्रेक्षा और संदेहालंकार हैं।)

पृष्ठ ११—प्रिय के कोमल स्मृतिचरण ने मेरी हृदय-वेदना के छालों को छू दिया है। वे ही अब फूटकर और धीरे धीरे घुलकर आँसू के रूप में बह रहे हैं। कवि ने आँसुओं की 'करुणा के व्रण' से उपमा दी है।

(इन पंक्तियों में बीभत्स रस की अवतारणा रसाभास पैदा करती है। शृंगार में करुणा के मिल जाने से शृंगार तो चमक उठता है पर बीभत्स का मेल इसके सौन्दर्य को फीका कर देता है।)

× × ×

पृष्ठ ११—इस व्याकुल बना देनेवाली वेदना को अपने हृदय में पालकर कौन सुख को पुकार सकता है!—कौन सुख को अपने निकट देख सकता है! हमारा अनजान भोला ग़रीब (प्रिय के मिलन-सुख-वैभव से रंक) जागृत मन 'विरह-वेदना' में बेहोश है; ऐसे दशा में उसे सुख कहाँ नसीब होगा!

× × ×

मन में बारबार अभिलाषायें उठ रही हैं; साथ ही सोई हुई व्यथा भी जाग उठी है। अब सुख कैसे मिल सकता है! अब तो रोते रोते ही आँखें झप रही हैं। सुख की नींद कहाँ सो सकता हूँ!

× × ×

पृष्ठ १२—मेरा यह हृदय-कमल उसकी भौंरों के समान काली अलकों

व्यथा को अनुभव करने की क्षमता ही पंगु हो गई है, उन्हें भला दूसरों के दुख को सुनने का अवकाश ही कहाँ मिल सकता है !

कवि यहाँ शोषकवर्ग की मनोवृत्ति की ओर भी इङ्गित कर रहे हैं। जो सहृदय नहीं हैं, जिनमें किसी के आँसू देखकर दर्द की एक चमक भी नहीं उठती, उन्हें अपनी करुण-कथा सुनाने से लाभ ही क्या ? यदि कोई हमारी व्यथा सुनकर एक उसाँस भी भर लेता है, तो हमारे पीड़ित हृदय को भारी सेहत मिलती है।

× × ×

पृष्ठ १४—मेरे जीवन की समस्या इतनी जटिल हो गई है—इतनी उलझन से भर गई है कि मुझे स्वयं आश्चर्य होता है। वह किसी योगी की जटा के समान कैसे बढ़ गई ! मेरे हृदय में भी अब शुष्कता की धूल उड़ रही है—नीरसता छा गई है—जटाजूटधारी योगी की तरह मेरी यह अवस्था किसकी 'कृपा' का फल है ? किसके कारण मैं ऐसी उलझन भरी स्थिति में पहुँच गया हूँ ? (कवि ने इन पंक्तियों में एक जटाधारी योगी का चित्र खींचा है। 'प्रिय' के अभाव में प्रेमी की अवस्था भी किसी 'योगी' से कम नहीं होती। 'सूर' की गोपियों ने भी ऊधव से यही कहा था कि हम विरहिणी 'योग' क्या सीखें; हम तो स्वयं योगिनी बनी हुई हैं। 'धूल' शुष्कता का प्रतीक है।)

× × ×

पृष्ठ १४—आँसू कब बरसते हैं ? जब वेदना की अनुभूति अपनी पराकाष्ठा को पहुँच जाती है; खूब संचित हो जाती है—घनीभूत हो जाती है। वेदना की अनुभूतियाँ मेरे मन में स्मृति के समान छाई हुई थीं। दूसरे शब्दों में मेरा सारा मन वेदना से व्याप्त था। स्मृति जब आती है तो सारा मन ही इसमे भर जाता है। हमें जिस वस्तु का जब स्मरण आता है तब हमारा मन केवल उसी वस्तु का चिन्तन करने लगता है, उसमें वही वस्तु छा जाती है। कवि कहते हैं कि मेरे दिमाग़ में

पीड़ाएँ पूर्ण रूप से छाई हुई थीं। जब संकट का समय आया—जब विरह की घड़ियाँ आईं—तब वही जमा हुआ दुःख आँसू बनकर बरसने लगा। 'दुर्दिन' शब्द में 'श्लेष' है जिसके अर्थ (१) संकट का समय और (२) पानी बादल का समय है। कवि ने बरसात के समय का ही रूपक खड़ा किया है। 'घनीभूत पीड़ा' में पीड़ा के घनों की ध्वनि है। मस्तिष्क 'आकाश' और 'दुर्दिन' बरसात के द्योतक हैं।

× × ×

पृष्ठ १४— कवि को ऐसा भास होता है कि कोई उनकी दर्द कहानी सुनकर द्रवित हो रहा है और उनके प्रति सहानुभूति से भर रहा है। वे कहते हैं—मेरे रुदन के स्वर में क्या कोई वीणा बज रही है जिसे तुम सुन रहे हो! मेरे इन आँसुओं के तारों से (चूँकि आँसू लगातार बह रहे हैं। इसलिए उनका 'तार'—धागा ही बँध गया है।) अपनी करुणा का वस्त्र बुन रहे हो? दूसरे शब्दों में, मेरे ये लगातार बहनेवाले आँसू तुम्हारे हृदय में करुणा का भाव पैदा कर रहे हैं।

पृष्ठ १५—मैं रो रोकर सिसकियाँ भर भर कर अपनी व्यथा तुम्हें सुनाता हूँ और तुम (उद्यान में) खड़े खड़े फूल की पँखुड़ियों को तोड़ते जाते हो और ऐसी मुद्रा प्रदर्शित करते हो मानो कुछ जानते ही न हो। तुम मेरी वेदना के कारण को जानकर भी अनजान बन जाते हो। तटस्थ रहकर मेरी व्यथा-गाथा को सुनते हो? तुम्हारी यह तटस्थता मुझे अखर उठती है; मैं और भी तिलक उठता हूँ। (प्रिय की उपेक्षा-मयी भाव-भंगी का कितना लुभावना चित्र है यह! 'सुमन' में श्लेष है जिसके अर्थ हैं (१) सुन्दर या अच्छा मन (२) फूल।)

(१) मेरे सुन्दर मन को तुम उपेक्षा प्रदर्शित कर तोड़ते जाते हो। अपने ही मन को सुन्दर कहने में 'अहं' का भाव नहीं है; चूँकि उसमें प्रिय की तस्वीर खिंची हुई है इसलिए वह स्वभावतः 'सुन्दर' है। (ऐसे सुन्दर मन का नोचा जाना सचमुच निष्ठुर व्यापार है!) इसमें स्वभा-

(प्रलय घटा में—हृदय की अत्यन्त उथल-पुथल का प्रतीक, तम-चूर्ण—नैराश्य का प्रतीक है।)

× × ×

पृष्ठ १६ (३)—मेरे लिए यह संसार असत्य रहा है ; इसमें केवल तुम्हीं सत्य थे ; 'जगत्' तो क्षण-क्षण परिवर्तनशील है, उसका सौन्दर्य भी स्थायी वस्तु नहीं है पर तुम्हारा सौन्दर्य सदा ही ताज़गी लिए रहा है।

(ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैनिन, त्यों-त्यों खरी निकरै-सी निकाई
—मतिराम)

इस कल्याणमय प्रेम-पथ के केवल तुम्ही 'जनम-मरण' के साथी थे !

× × ×

पृष्ठ १७—(१,२,३)—तुम्हारे आगमन की प्रतीक्षा में मैंने कितनी रातें बिता दीं। जब सारा संसार सो जाता तब मैं अपलक आँखों से आकाश की ओर निहारा करता। रात में जो तारे जलते हैं, वे ही मानों मेरे सँजोए दीप हैं; जिन्हें मैंने आकाश-गंगा में बहाकर तुम्हारी भेंट कर दिए हैं।

(इन पंक्तियों में किसी स्त्री का नदी में दीप जलाकर बहाने का कितना सुन्दर चित्र आँखों के सम्मुख खिंच आता है !) आँखों का अपलक आकाश की ओर निहारने का भाव 'तारों के दीप जलाए' में कितना सजीव हो उठा है ! 'निर्जन रजनी' से उस भींगी हुई रात का भाव व्यञ्जित होता है, जब 'सारा आलम सो जाता है'—सिर्फ दो ही आँखें जगती रहतीं और उनींदी होने से जलती भी रहती हैं। उनका यह 'जलना' ही दीप सँजाने के समान है।

इतनी प्रतीक्षा के पश्चात् मेरे प्रियतम मुझसे मिलने आए; मैं गौरवान्वित हो उठा। उनका मेरे गृह आना उनकी प्रतिष्ठा—उनकी प्रकृति—के अनुरूप नहीं था। इसीलिए उन्हें सहसा अपने बीच देखकर मैं अपने

को बहुत भाग्यशाली समझ हर्षातिरेक से इठला उठा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानो रात भर जिसका स्वप्न देखता था वही सवेरे सत्य बन आ गया! अपने स्वप्न को सत्य होते देख किसे हर्षोन्माद न होगा! प्रिय की प्रतीक्षा करते करते आँखें आँसुओं की बरौनियों में उलझाए झप जाती थीं—('सुख का सपना हो जाना, भींगी पलकों का लगना।') सपने में उसकी झलक दिखाई देती थी। आँख खुलते ही जब साक्षात् वही 'मुसक्याता सा आँगन में' आ रस बूंद बरसाने लगा तब मैंने अपने भाग्य को सराहा और हर्षातिरेक में इठला उठा। क्योंकि जिस बात की मैं स्वप्न में कल्पना करता था वही सत्य बन गयी थी।

× × ×

पृष्ठ १७—(३)—जब मैंने तुम्हें देखा तो मीठी रात मुसकुरा रही थी, चाँदनी बरस रही थी। पहिली ही झलक में तुम मेरे हृदय के इतने निकट आ गए कि ऐसा प्रतीत होने लगा मानो हम वर्षों के परिचित हों। (Love at first sight में यही भावना अन्तर्हित रहती है। प्रेमी के हृदय में प्रिय की प्रथम झाँकी से ही बिजली सी कौंध जाती है—वह उसी में मिल जाने के लिए अत्यधिक आतुर हो उठता है। उसे ऐसा भान होने लगता है, मानों उसकी 'पदध्वनि' बरसों की पहिचानी हुई हो। इस पद्य में मुसक्याती मधुराका में—चाँदनी रात में—'प्रिय' के प्रथम दर्शन का भाव प्रकट होता है और यह भाव भी कि जब प्रथम बार तुम्हें देखा तो तुम मधुवर्षी ज्योत्स्नामयी रजनी से सुन्दर लगे थे।)

× × ×

पृष्ठ १८—तुम्हें देखकर मेरा हृदय उसी तरह तुम्हारी ओर खिंच गया जिस तरह समुद्र की लहरों में चंद्र-किरणों के मिलते ही लहरों में चंद्र की ओर खिंचाव पैदा हो जाता है।

× × ×

पृष्ठ १८—कवि को स्मरण आता है कि वह किस प्रकार प्रिय के

पृष्ठ २२—इस पद्य में 'प्रिय' की बरौनी को 'चितेरी' का गौरव दिया गया है। जो उसकी 'कजरारी आँखों' की ओर देखता है, या जिसकी ओर वह कटाक्ष करती है, वही आहत हो जाता है। कवि कहते हैं कि जो तेरी ओर या तू जिसकी ओर दृष्टि फेंकती है, उसकी आकृति तेरी पुतली में खिंच आती है। कवि कल्पना करते हैं कि बरौनी ही तूलिका है जो घायल हृदयों का तेरी चितिज के समान पुतली के पट पर चित्र खींचा करती है। और चित्र खींचने की इस कला में वह काफी चतुर भी हो गई है।

× × ×

पृष्ठ २२—इस पद्य में 'मुसकुराहट' और 'भौहों' के प्रभाव का वर्णन है—

तेरे कोमल कपोल के अङ्क (अधर) में सरल मुसकुराहट अङ्कित रहती पर उसकी वक्रता वही समझ सकता है जिसने तेरे भौहों का बाँकापन—टेढ़ापन देखा है। तेरी सरल मुसकुराहट भी बड़ा क़हर बरसाती है; वह 'सीधी सादी' दिखाई ही देती है, भौहें जो तूफान मचाती हैं उनसे हमें आश्चर्य नहीं होता, क्योंकि वे तो अपनी 'टेढ़ी प्रकृति' प्रकट ही कर रही हैं पर तेरी मुसकुराहट में बड़ा छल है—बड़ी कुटिलता है। यह सीधी दिखाई देकर भी कुटिल कार्य करती है।

पृष्ठ २३—इस पद्य में 'दाँतों' की शोभा वर्णित है—

मूँगे के सदृश लाल ओठों (सीपी सम्पुट) की सीपी में ये मोती के समान दाँत क्यों हैं ? मोती तो हंस चुगते हैं, पर यहाँ हंस कहाँ हैं ? ओठों के ऊपर तो शुक की चोंच (नासिका) है। फिर इसे चुगाने को ये मोती क्यों रखे गये हैं ?

(इस पद्य की उपमाओं में कोई ताज़गी नहीं है। प्राचीन परम्परा का ही पालन है।)

× × ×

पृष्ठ २२—इस पद में 'प्रिय' की हँसी का अलंकारपूर्ण वर्णन है। उसकी हँसी में इतनी ताज़गी, इतना सम्मोहक है कि मधुर उषाकाल में खिला हुआ कमल का मन भी यदि उसे (हँसी को) देख ले तो लज्जित हो जाय। उसकी हँसी में इतना माधुर्य और इतनी ताज़गी है कि प्रातःकालीन खिले कमल के फूल भी लाल हो जाते हैं। वे उसके सामने मुरझाये से दिखाई देते हैं। उषःकाल में फूलों में स्वयं ताज़गी रहती है पर वह ताज़गी प्रिय की हँसी की ताज़गी और माधुर्य को कहाँ पा सकती है! (इसमें अप्रस्तुत से प्रस्तुत की अधिक व्यंजना की गई है।)

× × ×

पृष्ठ २३—इस पद में 'प्रिय' के 'कानों' (कर्ण-शष्कुली) का वर्णन है। हिंदी और संस्कृत साहित्य में भी प्रेमी के 'कानों' के वर्णन की परम्परा नहीं मिलती। इस दृष्टि से इस वर्णन में नवीनता है—

मुख-कमल के पास ही कमलिनी के कोमल दो पत्ते (कर्ण-शष्कुली) लगे हुए थे। इसलिए तो उन कानों में किसी का दुःख-पूर्ण स्वर नहीं ठहर पाता था; क्योंकि कमल पत्र पर 'जल-बिंदु' कहाँ स्थिर रहते हैं! वे तो नीचे ढरक ही जाते हैं।

(दुःख को 'जल-बिन्दु' कहना भाव-पूर्ण है। दुःख भी—आँखों के पानी के रूप ही में बाहर प्रकट होता है।)

× × ×

पृष्ठ २४—(1)—इस पद में दोनों बाहुओं का रूप-वर्णन है। प्रिय के बाहुद्वय इतने सुन्दर और अलबेले लगते हैं कि कवि का आश्चर्य बढ़ उठता है—ये किस कामदेव के धनुष की दोनों प्रत्यंचा हैं? क्या यह लता तो नहीं है या शरीर के रूप-सरोवर में उठने वाली नई लहरें तो नहीं हैं! (सन्देहालंकार)

× × ×

पृष्ठ २४—(२)—प्रिय के पवित्र शरीर की शोभा का ओज इतना माधुर्य बरसा रहा था कि कवि कल्पना करते हैं कि यदि बिजली (जो स्वयं उज्ज्वल और सुन्दर है) पूनो की चाँदनी (चंद्रिका पर्व) में स्नान कर आये और उसके बाद उसमें जो कान्ति झलके वह 'प्रिय' की कान्ति की समता कर सकती है। (प्रिय की शोभा बिजली और पूनो की रात की सम्मिलित शोभा के समान थी।)

× × ×

पृष्ठ २४—(३) प्रिय के मन में चाहे 'छल' ही क्यों न भरा हो पर मेरा उसमें बहुत ही गहरा विश्वास था। मैं तो उस मायाविनी के निकट जाकर स्वयं कुछ सच्चा बन गया था। मैंने अपनी सच्ची भावनाओं की ही उसपर अञ्जलि चढ़ाई थी।

× × ×

पृष्ठ २५—(१)—प्रिय ने प्रेमी की भावनाओं के साथ अपनी भावनाओं का रस नहीं उँडेला। तटस्थता ही प्रदर्शित की। अतः कवि के झुँझलाहट भरे उद्गार कहते हैं—

क्या प्रेमी केवल सौंदर्य का ही पुतला था। उसमें बाहरी आकर्षण का ही साधन मात्र था? क्या उस रूप की आकृति के भीतर धड़कन लिए हुए हृदय नहीं था!

क्या यह तो नहीं था कि मुझे भावुक जानकर ही तटस्थ (जड़) बनकर अपने रूप का प्रदर्शन किया गया था!

× × ×

पृष्ठ २५—(२)—कवि कहते हैं 'उनकी' बिखरी अलकों ने ही मेरे जीवन में उलझन पैदा कर दी। उन्होंने मेरे हृदय में प्रेम का अंकुर जमा दिया था। जब मैं उनके बिखरे बालों पर मुग्ध हो गया तो मुझे अपना ध्यान नहीं रहा। इसी अवस्था में प्रिय ने मेरे जीवन का प्रेम-रस पी लिया। मुझे अपने वश कर लिया।

(इस पद में भाषा की दृष्टि से रचना दोषमय हो गई है । पहिली पंक्ति में 'मेरे जीवन' कहा गया है और अन्तिम में 'हमारी पलकें' । 'हमारी' के स्थान पर 'मेरी' होना चाहिए था । यदि चतुर्थ चरण में 'हमारी' अभीष्ट था तो प्रथम चरण में 'हमारे जीवन' चाहिए था । पर तुक के झमेले ने यह दोनों संभव नहीं होने दिया । प्रथम दो पंक्तियों में विरोधाभास है । स्वार्थवाला लक्षणा का भी यह अच्छा उदाहरण है ।)

× × ×

पृष्ठ २५—(१)—ज्यों-ज्यों मेरा आकर्षण उसकी ओर बढ़ता जाता था, मेरे मन को शांति मिलती जाती थी । मुझे उससे प्रेम करने में सुख अनुभव होता था । यद्यपि मैंने अपने मन को उसके प्रेम में बाँध दिया था, फिर भी मुझे भला ही लगता था—सुख ही मिलता था । उस समय दुःख पास नहीं फटकता था—दूर ही रहता था । प्रेम का बन्धन सुख ही प्रदान करता था ।

× × ×

पृष्ठ २६—(१) प्रकृति भी कवि के उल्लास में हर्ष-विकम्पित हो उठी है—वृक्षों में सुन्दर पत्ते फूल रहे हैं; शाखाएँ परस्पर गले मिल रही हैं, भौंरे गुंजन का सजीव तान छेड़ रहे हैं ! फूलों पर बैठ कर मानो उनका चुम्बन ले रहे हों ।

पृष्ठ २६—(२)—मधुपों की तान जब वन-उपवन में गूँजती थी तो ऐसा प्रतीत होता था मानो मुरली बज रही हो । कलियाँ जो खिलती थीं तो ऐसा प्रतीत होता था मानों मधुपों की तान सुनकर वे हँस उठी हों । मधुपों की मीठी गुंजार कलियों के 'मधु'-भार को पारकर उनके कानों तक जैसे पहुँच जाती हो !

× × ×

पृष्ठ २७—(१)—इन पदों में संयोग शृंगार का चित्रण है—'प्रेमी' का वक्षस्थल 'प्रिय' की धड़कन गिन रहा है (दोनों परस्पर आलिंगन बद्ध

हैं); प्रिय के अधर प्रेमी के ओठों पर रखे हुए हैं और इस प्रकार प्रेमी को प्रि के निश्वास के मंद मंद झोंके मानस गगन को माधुर्य से रस सिक्त बना रहे हैं। प्रेमी कहता है कि मैं प्रातः प्रिय के मुख-चंद्र को नज़रों में भरकर (देखकर) उठता था। (उठने के पूर्व मैं प्रिय का आलिंगन और चुम्बन करता था।)

× × ×

पृष्ठ २७—(२)—जब प्रिय आलिंगन में बद्ध होती और उसका मुँह मेरे वक्षस्थल में छिपा होता उस समय मेरे नख प्रस्वेद से भीग उठते। मिलन की वह रात भी शिथिल हो जाती थी। प्रेमियों के भावातिरेक में 'शरीर-मिलन' के क्षण शैथिल्य लेकर ही आते हैं। (इस पद में चाँदनी रात का रूपक बाँधा गया है। प्रेमियों की मिलनावस्था ही सुख की रात है। वक्षस्थल में छिपा हुआ प्रिय का मुख ही चंद्र है; वक्ष-पट ही आकाश है और वक्ष पर सात्विक भाव के कारण प्रेमियों के शरीर से निकले हुए जो स्वेद-कण छाये हुए हैं, वे ही मानो तारे हैं।)

× × ×

पृष्ठ २७—(३)—अब कभी मेरा प्रिय से इस प्रकार का 'भौतिक-मिलन' न होगा। इसी को कवि इस प्रकार कहते हैं—वह अलस भरा सौंदर्य लिए प्रेमिका फिर से मिलन-कुञ्ज में सोकर मुझपर सुख की वर्षा नहीं करेगी। मैं अब उसके साथ साथ सुख के स्वप्नों को नहीं देख सकूँगा। (चाँदनी रूपमयी प्रेमिका के लिए व्यवहृत हुआ है।)

× × ×

पृष्ठ २८—(१)—प्रिय का विछोह हो गया है। अब तो मन के आवेग उसके 'दर्शन' के लिए रह रह कर छटपटा उठते हैं—मन में रूप-दर्शन की प्यास जगी हुई है। इस समय मेरा हृदय उसके अभाव में 'शून्यता' अनुभव कर रहा है। कवि अपनी रिक्तावस्था का अनुभव कर 'प्रिय' से शिकायत करते हैं कि तुम्हीं ने मेरे मानस का समस्त रस पीकर

मेरी हृदय-प्याली को खाली बनाकर फेंक दिया है। जबतक तुम्हें मेरे साथ रस अनुभव होता था, तुमने उसका उपभोग किया; अब जब मुझमें कोई नवीनता न रह गई, कुछ रस न बच रहा, तो तुमने अपनी आँखें फेर लीं।

× × ×

पृष्ठ—२८—(२)—हमारे मानस में प्रेम-कमल खिला और अब विरह में मुरझा गया। परिणामतः आँसू के रूप में उसके केशरकण बिखर रहे हैं; और उसासों के रूप में पराग उड़ रहा है।

× × ×

पृष्ठ २९—(१)—प्रिय का सान्निध्य सुख प्रेमी को अधिक समय तक आनन्दविभोर नहीं रख सका। इसलिए अतृप्ति उसे रह रहकर व्याकुल बना देती है। वह उसी की स्मृति में चीख उठता है—

वे प्रिय की मिलन घड़ियाँ कुछ क्षण ही रहकर क्यों बीत गईं? उसकी मलय समीर सी ताज़गी भरनेवाली प्रेम-भावनाएँ मुझे ज़रा ही छूकर क्यों वापस लौट गईं? उसने जो मुझ पर दया-दृष्टि की थी वह अब क्यों फिर गई?

× × ×

पृष्ठ २९—(२)—प्रिय के वियोग में मैं अपना भाव खो चुका हूँ (विस्मृति है); उसकी स्मृति मुझमें मादकता भर देती है; मन मूर्च्छित हो गया है। ऐसा प्रतीत होता है वे मिलन की सुख-घड़ियाँ सत्य नहीं थीं—मैंने उनका अनुभव कदाचित् स्वप्न में किया था—मैं यह भी सोचने लगता हूँ, कदाचित् मैंने उसके 'मिलन-क्षणों' की केवल कल्पना ही की है—वास्तव में मेरा उनका कभी मिलन नहीं हुआ। अब तो 'मधुर-भावनाओं' की स्मृति ही एकाकी जीवन में गूँज रही है।

(यहाँ 'मुरली' मधुर भावनाओं की प्रतीक है।)

× × ×

पृष्ठ ३०—(१)—प्रिय के आगमन के पूर्व मेरा हृदय हीरे के समान कठोर था; पर जब उसके कोमल रूप के दर्शन हुए तो उसकी कठोरता चूर-चूर हो गई। सिरस के फूल के समान सुकुमाराङ्गी ने हीरे से कठोर हृदय को कुचलकर टुकड़े-टुकड़े कर डाला - यह क्या कम आश्चर्य की बात है। मिलनावस्था में जो प्रेम बर्फ के समान शीतलता प्रदान करता था, विरहावस्था में वही अंगारे बरसाने लगा है। (एक ही वस्तु भिन्न परिस्थितियों में भिन्न प्रभाव उत्पन्न करती है।)

× × ×

पृष्ठ ३०—(२)—जब सूर्य के ढल जाने पर संध्या हो जाती है; चारों ओर धुँधलापन छा जाता है और कमल भी संकुचित हो जाते हैं—मानो भौंरों से छिपना चाहते हैं तब जो प्रिय-मिलन की उत्कंठा में विह्वल हो उठता था और हम प्रतीक्षा में रोते रहते। (धुँधली संध्या उद्दीपन खिंचाव और 'रोना' अनुभाव हैं। प्रेमी डूबते दिन का धुँधलापन और संध्या का आगमन प्रिय की मिलन-उत्कंठा को उत्तेजित करते थे। इसी से वह रो उठता था।)

पृष्ठ ३०—(३)—मेरा हृदय मक्खन के समान स्निग्ध था इसी-लिए प्रिय की रूप-ज्वाला के संसर्ग से अविलम्ब दीपक के समान जलने लगा। अब विरह में निराशा भर गई है—अँधियारी छा गई है। दीपक जलकर जब बुझने लगता है तो वह धुएँ से स्थल को भर कर अँधियारी का चित्र खींचता सा प्रतीत होता है। और बुझते ही उसके चारों ओर अँधियारी छा जाती है। अतः जल जलकर एक ओर तो वह प्रकाश फैलता है और दूसरी ओर धुआँ छोड़कर अंधकार की सृष्टि करता है।

× × ×

पृष्ठ ३१—(१)—रात में चारों ओर शांति छाई हुई दिखलाई दे रही है। रस-लोलुप भौंरों की गुंजार (मुरली) अब नहीं सुन पड़ती, क्योंकि अब वे कमलिनी के 'कोष' में बंद हो गए थे। यह नीरव वाता-

परन्तु प्रिय की स्मृति आँखों में समाने लगी। मेरे निराश हृदय में प्रेम की मधुला बहने लगी। (वातावरण की मादकता ही रति-भाव को उद्दीप्त कर रही थी।)

× × ×

पृष्ठ ३१—(२)—रात भर प्रिय की प्रतीक्षा करते करते मेरा मन प्रातः निराश होकर गिर जाता—उदास हो जाता। मेरे मन की अवस्था उस निरस फूल के सदृश हो जाती जो बसंत ऋतु में रात के पिछले पहरों में खिलता है और सूर्य की किरणों के स्पर्श से ही मुरझाकर ज़मीन पर गिरकर धूल में मिल जाता है। प्रिय की प्रतीक्षा में मैं खिला सा रहता पर जब सूर्य की किरणें पूर्व के वातायन से झाँकने लगतीं तो मैं निराश हो जाता—मेरा मन छिन्न-भिन्न हो जाता—मेरा उत्साह धूल में मिल जाता।

× × ×

पृष्ठ ३१—(३)—'प्रिय' को रात भर उनींदी आँखों से प्रतीक्षा करने के पश्चात् भी उसकी झलक नहीं नसीब होती तो सवेरे विरहोच्छ्वास छोड़कर रह जाता हूँ। प्रकृति भी कवि की विपन्नावस्था का साथ देती है। प्रातःकालीन समीर जो पहले मधु-सौरभ को लेकर मगन रहता था अब इस तरह धीरे धीरे बह रहा है मानो वह भी किसी के विरह में व्याकुल हो उसासें छोड़ रहा हो।

× × ×

पृष्ठ ३२—(१)—प्रातःकाल पौ फटने के समय पूर्व दिशा पीत रंग से रंजित हो जाती है। कवि कहते हैं, सूर्य की किरणों के चुम्बन से मानो पूर्व-सुन्दरी के कपोल पीले पड़ गए थे। (यहाँ कवि ने लज्जा से कपोलों में लाली नहीं दिखाई। ऐसा प्रतीत होता है; 'सुन्दरी' चुम्बन का रसास्वाद नहीं ले रही थी—वह स्वयं अनमनी थी। इसीसे उसके कपोलों में स्वाभाविक लज्जा का रंग न था, भय या दुःख की भावना

संचारित हो गई थी) मैं उसके दर्शन की लालसा से रात भर नभ की ओर देख देखकर प्रातः समय तक निराश हो जाता और तब मेरी आँखें झँप जाती थीं।

× × ×

पृष्ठ २२—(२)—प्रातःकाल पृथ्वी का हरा भाग ओस से भर गया था। कवि कल्पना करते हैं कि वे ओसकण नहीं थे, वे तो मेरे ही प्रेम के आँसू थे जो प्रभात समय मैंने निराशावस्था में अपनी आँखों से गिराये थे। ऐसा प्रतीत होता है मैं ही खाली बादल बनकर गगन में छा गया था और आँसुओं के मोती बरसा कर मैंने पृथ्वी के अंचल को भर दिया था।

× × ×

पृष्ठ २२—(३)—मैंने प्रिय के सौन्दर्य के दर्शन का जो रस एक बार पी लिया वह मेरे लिए नशा बन गया। जिस प्रकार मदिरा का प्याला ओठों से लग जाने पर ओठों की प्यास बढ़ा देता है—वे बार बार उसे अपने से लगाने को व्याकुल होते रहते हैं; उसी प्रकार आँखो ने जब से उसके रूप-दर्शन किए तब से वे बार-बार उसे देखने को छटपटाने लगी हैं। रूप-दर्शन से ही मेरा हृदय ऐसा विकल हो उठा था जैसे ज़हर पी लिया हो। अब वही विष मेरे लिये मदिरा बन गया है। विष तो व्यक्ति एक ही बार पीना चाहता है पर मदिरा बार बार पीने की इच्छा करता है। मेरी आँखें बार-बार उसी रूप को देखने को व्यग्र हैं। अब तो मेरे हृदय में उन सुन्दर पलकों के प्याले का प्रेम जीवन की साध बनकर बस गया है। मेरा जी उन सुन्दर पलकों के प्याले को अपने ओठों से लगाने को व्यग्र हो गया है। मैं उन सुन्दर पलकों को चूमना चाहता हूँ।

× × ×

पृष्ठ २३—(१)—जिस समय मैंने प्रिय का पूर्ण विकसित सौंदर्य देखा, मेरे हृदय का प्रेम समुद्र सा लहरा उठा; जाग उठा। पूर्णिमा की

रजनी जब अपने वैभव को लेकर खिल उठती है तब समुद्र की लहरें चाँद की किरणों का आलिंगन कर इतने वेग से बढ़ती हैं मानो चाँद को ही छू लेंगी। अब उसके ओझल हो जाने पर मैं रत्नाकर ही में 'उसकी' परछाईं को चमकते हुए अनुभव करता हूँ।

× × ×

पृष्ठ ३३—(२)—इस पंक्तिमें 'सौन्दर्य ही परमात्मा' (Beauty is God) की भावना व्यक्त की गई है—

सौंदर्य के पर्दे में परमात्मा ही हमें मधुर मुरली बजाकर मानो आकर्षित कर रहा है। संध्या और अमा-निशि में भी वही (परमात्मा) अपना खेल खेलता दिखाई देता है। प्राकृतिक रूपों में भी परमात्मा की सत्ता का भान कवि को होता है।)

× × ×

पृष्ठ ३३—(३) इस पद्य में कवि ने आध्यात्मिक अनुभूति के साम्प्रदायिक विश्वास को प्रकट किया है। सूफियों की आस्था है कि 'परम-प्रिय' परमात्मा 'हाल' की—स्वप्न की—दशा में आते हैं और साधक जब होश में आ जाता है तो वे ग़ायब हो जाते हैं—चले जाते हैं,उनके चले जाने पर हम एकाकी तड़पते रह जाते हैं। जैसे नशे के उतर जाने पर पुनः एक घूँट की प्यास हमें बेचैन बना देती है उसी तरह विरह हो जाने पर मिलन की उत्कंठा व्याकुल बना देती है। महादेवी ने भी इसी भावना को यों व्यक्त किया है—

"वह सपना बन बन आता,
जागृति में जाता लौट।"

पृष्ठ ३४—मेरे हृदयाकाश में बिजली बनकर तुम आये और अब इन्द्रधनुप के समान विचित्र (रंगीन) स्मृतियों को छोड़कर चले गये हो।

× × ×

पृष्ठ ३५—(१)—प्रिय की स्मृति पुष्प रस और मेघमाला के

समान आती है जिसमें मेरे हृदय विपिन की कली सरस बनकर खिल उठती है। (स्मृति को मकरंद की समता इसलिए दी कि वह मकरंद के समान ही रस और मादकता उत्पन्न करती है। मेघ हर्ष का द्योतक है।)

× × ×

पृष्ठ ३५—(२) इसके पूर्व पद से कवि 'स्मृति' से व्याकुल नहीं होते—हर्ष मनाते हैं। वे कहते हैं—तेरी स्मृति के मधुरस की वर्षा से मेरा हृदय ओस-कण के समान भीग गया है। ऐसा प्रतीत होता है, मानो कोई मेरे मन-मन्दिर पर मोतियों की ढेरी बरसा रहा हो। (कवि प्रिय की स्मृतियों को अपने मन में बसाकर अपने को 'धनी' अनुभव कर रहा है।)

× × ×

पृष्ठ ३६—(१)—कवि अब प्रकृति के व्यापारों में प्रिय का स्पर्श अनुभव करने लगा है। इससे उसके तप्त हृदय को सेहत ही मिलती है।

'यह शीतल समीर जो बह रहा है वह तुम्हारा पवित्र स्पर्श कराता है। इसीसे जब वह मुझे छूता है तो मैं सिहर उठता हूँ। और आँखें (सात्विक भाव से) आँसू बहाने लगती हैं।'

× × ×

पृष्ठ ३६—(२)—रात को मालती लताएँ तरु के सहारे (तकिया लेकर) लिपटी सोई रहती हैं और मैं व्यर्थ ही प्रिय की प्रतीक्षा में आकाश के तारे गिनता रहता हूँ। (इस पद्य से पुनः कवि का विषाद रो उठता है। कवि अपनी स्थिति से समझौता करने का प्रयत्न करते हैं—कभी सफल होते हैं; कभी असफल।)

पृष्ठ ३६—(३)—कवि पुनः सँभलते हैं। कहते हैं—प्रिय ने ओझल होकर मेरे साथ निष्ठुरता अवश्य प्रदर्शित की है पर फिर भी मैं सर्वथा एकाकी नहीं हूँ—मिलन-आशा भरी विरह-निशा है और प्रिय का

विरह-दुख है। उसका दुख मुझे उसके निकट ही रखता है।

× × ×

पृष्ठ ३७—(१)—जब संध्या छा जाती है तो आकाश में लालिमा फैल जाती है। उस समय कब रात की अँधियारी छा जाती है, हम सहसा नहीं जान पाते। आकाश की लालिमा को कब निशा की कालिमा ढँक लेती है, इसका ज्ञान हमें नहीं हो पाता। देखते-देखते ही मानो सोने के जाल पर काली चादर छाने लगती है। (इस पद्य में 'प्रसाद' का नियतिवाद ध्वनित हो रहा है। कब सुख की घड़ियाँ दुख में परिवर्तित हो जायँगी, हम नहीं कह सकते।)

× × ×

पृष्ठ ३७—(२)—अब मेरा हृदय तुम्हारे प्रेम-रंग में इतना अधिक रँग गया है कि प्रयत्न करने पर भी—आँसू के पानी से धोने पर भी वह नहीं छूटता। यह प्रेम का रंग कैसा अनोखा है! (यहाँ 'रँग' प्रेम का प्रतीक है। विप्रलंभावस्था में प्रेम और गहरा हो जाता है।)

× × ×

पृष्ठ ३८—(१)—'तेरी आकृति इच्छाओं के सम्पूर्ण विकास के समान खिली हुई थी जो मेरे हृदय-पटल पर खिंच आई थी और जिसके प्रति मेरी अभिलाषा जाग उठी थी।' प्रिय की मूर्ति प्रेमी के मन को भा गई थी। उसे देखकर ही उसके हृदय में प्रेम पैदा हो गया था। (इस पद्य में स्थूल की उपमा 'सूक्ष्म' से दी गई है। 'मूर्ति' को 'भावना कला का विकास' कहना नई कविता की प्रवृत्ति के अनुरूप ही है।)

× × ×

पृष्ठ ३८—(२)—प्रिय का दर्शन पहले तो पथ-प्रदर्शित करनेवाले दीपक के समान प्रतीत हुआ पर जब उसने हृदय में प्यास भर दी तो वही 'दीप' अंगारों का अंबार बनकर जी को जलाने लगा। (संयोग में जो वस्तुएँ अनुकूल फल देती थीं—वियोग में वे ही प्रतिकूल फल देने लगीं।)

कब अपना चक्र घुमा देगी और कब सुख को दुख में परिणत कर देगी, कौन कह सकता है !

× × ×

पृष्ठ ४६—(१)—संसार कभी दुख का और कभी सुख का अनुभव करता है और इन्हीं अनुभवों के बीच उसका उत्थान-पतन होता रहता है। यह क्रम उसका प्रलय काल तक चलता रहता है। वह अपनी ही धुन में मस्त रहता है, वह दूसरों का हित-अहित सोचने को कभी नहीं रुकता। (संसार में सभी प्राणी अपने ही सुख-दुख, उत्कर्ष-अपकर्ष की चिंता करते और अपना जीवन-यापन करते हैं। उन्हें अन्य व्यक्तियों की भलाई बुराई की ओर ध्यान देने की चिन्ता नहीं होती।)

पृष्ठ ४६—(२)—मनुष्य के जीवन में विरह-मिलन दोनों का समावेश है। उसमें दुख-सुख दोनो का अनुभव होता है। चीज़ जैसी दिखाई देती है उसे उसी रूप में ग्रहण करना चाहिए। उसका अपनी ही रुचि के अनुरूप स्वागत करना चाहिए, यह काम मन का है।

('मन के हारे हार है, मन के जीते जीत'—तुलसी। यदि हम अपने मन को इतना तैयार कर लें कि वह जिस घटना में दुख दिखाई देता है उसे सुख मान ले तो फिर दुख के अनुभव की तीव्रता बहुत ही कम हो जायगी। इसीलिए कवि कहते हैं कि जीवन में सुख-दुख दोनों के प्रसंग आयेंगे पर यदि उनको देखने का आपका अपना दृष्टिकोण है और इनको ग्रहण करने की आप के मत की तत्परता आपकी रुचि के अनुकूल है तो आपको हर स्थिति में संतोष ही होगा। इसी प्रकार जीवन में जो एक बार मिला है वह कभी न कभी बिछुड़ेगा ही। अतः उसमें एक ही स्थिति संभव नहीं है। मन ही हमारी भावनाओं को संतुलित रख सकता है।)

× × ×

पृष्ठ ४७—(१)—कवि के जीवन में प्रिय ने आकर बेहद सुख भर दिया था पर उस असीम सुख को उसने पल भर में ही चुपचाप चुरा लिया

और वह ओझल हो गया। इसीलिए उनके प्राण विकल हो रो रहे हैं।

× × ×

पृष्ठ ४७ (२)—मैं रात भर प्रतीक्षा करता हूँ—जब उषा प्रभात होने की सूचना देती है तो मैं निराश हो जाता हूँ। परन्तु जब संध्या रात का संदेश लेकर आती है तो मैं प्रिय-मिलन की आशा में हर्ष-विकम्पित हो जाता हूँ।

× × ×

पृष्ठ ४८—(१)—मालती के कुंज में जिस प्रकार चाँदनी रात में चाँदनी की आभा भी झलक उठती है और लताओं का समूह होने से अँधियारी भी रहती है उसी प्रकार हमारे मन में सुख-दुख दोनों की स्थिति रहती है। ('चंद्रिका' सुख और 'अँधेरी' दुख का प्रतीक है।)

× × ×

पृष्ठ ४८—(२)—आकाश में सुख ही भरा हुआ है। आकाश में 'ईथर' की लहरें हैं। कवि कहते हैं कि असीम सुखों से ही सारा आकाश-स्थान तरंगित हो रहा है। तारे जो उसमें दिखाई देते हैं वे भी मानो प्रसन्नता से हँस रहे हैं।

× × ×

पृष्ठ ४८—(३)—ऊपर आकाश तो सुख का आगार है परन्तु नीचे पृथ्वी दुख-भार से ही दबी जा रही है। रो-रोकर ही दुख का सागर मानो भर रही है।

× × ×

पृष्ठ ४९—(१)—(इस पद्य को 'प्रसाद' के नियतिवाद की चर्चा करते समय समझा दिया गया है।)

× × ×

४९—(२)—मेरे मन में सुख की कमी नहीं थी। उसमें इतना सुख था कि वह जल, थल और नभ में भी न समाता (सुख की

अधिकता प्रदर्शित करते हैं) उसी को प्रिय ने अपनी मुट्ठी में रख लिया था। मुझे प्रेम का आश्वासन दे उसने मेरे साथ छल किया। और इस तरह मेरा अखंड सुख अपनी मुट्ठी में कर वह ओझल हो गया।

× × ×

पृष्ठ ४९—(३)—उसे ऐसा कौन सा दुख था, जो मेरा सुख लेकर वह भाग गया। बेहोश अवस्था में उसने ओठों को प्रेम-रस (चुम्बन) से ज्यों ही प्लावित किया, मैं सिहर कर जाग गया पर वह इसी बीच में खिसक गया। (इस पद्य में भी सूफियों की हालअवस्था में परमात्मा के आगमन के विश्वास की अभिव्यक्ति है।)

पृष्ठ ५०—(१)—मैंने अपने जीवन मे समझौता कर लिया था। मैं जिसका दुख जीवन में था उसी को सुख समझ लिया करता था। मैंने अपने मन को इस प्रकार की अनुभूति के लिए तत्पर कर लिया था। क्योंकि मैं जानता हूँ कि जीवन में घन में बिजली के समान मृत्यु भी अनिवार्य रूप से बसी हुई है। इसलिए अब दुख-सुख की पर्वा क्यों करूँ? नियति की प्रत्येक देन को क्यों न सहर्ष मन पर झेलूँ?

× × ×

पृष्ठ ५०—(२)—प्रिय मुझे दुखी देखकर प्रसन्न हो उठता है। इस तरह मेरी करुण भावना जब उसे प्रभावित करती है तो उसका रूप और खिल उठता है। (शृङ्गार रस में जब करुण भाव प्रवाहित होने लगता है तो वह विकसित होकर अधिक सरस बन जाता है। यदि शृङ्गार से विप्रलंभ का अंग निकल जाय तो उसमें क्या 'रस' रह जायगा? इस भाव को भी इन पक्तियों में श्लेष से ध्वनित किया गया है।)

× × ×

पृष्ठ ५०—(३)—सुख-दुख ममत्व-मोह-से होता है। यदि हम 'मोह' त्याग दें तो सुख-दुख कभी पैदा न हों। कोई 'ममता' का अर्थ अहंकार भी करते हैं। उनके मत से अहंकार ही सुख-दुख का कारण

"वह खुद ही आ जायगा;
दर्दे दिल बढ़ने तो दो।;

× × ×

पृष्ठ ५२—(२)—जब संध्या हो जाती है तो मैं मिलन की प्रतीचा करने लगता हूँ और तुम्हारे मिलन की मनमानी कल्पना करने लगता हूँ। पर जब रात बीत जाती है और उषा की लालिमा आकाश में हँस उठती है तो मैं निराश हो जाता हूँ और मेरी मनमानी कल्पनाओं का अन्त हो जाता है। (तृतीय पंक्ति में 'रक्त' शब्द साभिप्राय है। वह निराशा ऐसी है जैसे किसी ने कलेजा चाक कर दिया हो और वह रक्तमय हो उठा हो।)

× × ×

पृष्ठ ५३—(१)—स्पष्ट है।

× × ×

पृष्ठ ५३—(२)—उसासों और आँसुओं से दुखी मन को आराम मिलता है। जब आँखें रो रोकर झँप जाती हैं तो नींद के बहाने सपना ही आता है जिसमें 'प्रिय' का मिलन सुख ज़रा सेहत देता है।

पृष्ठ ५४—(१)—कवि रात से आग्रह करते हैं कि जब हृदय में व्यथायें सो जाएँ—चूँकि तुम ही उन्हें चण-विश्राम देने का श्रेय लूटती हो इसलिए वे तुम्हारी कृतज्ञ हैं—उनका उन्माद तुम ज़रा उत्तेजित कर देना जिससे वे कुछ समय तक और होश में न आयें। वेदनाएँ जितने समय तक सोई रहें, अच्छा है।

× × ×

पृष्ठ ५४—(२)—इस पद्य में भी रात से आग्रह किया गया है कि तुम जग को तन्द्रा से भर दो जिससे दुखी मनुष्य अपनी वेदना भूल सकें।

× × ×

पृष्ठ ५४—(३)—इस पद्य में 'रात' हो जाने की कामना की गई

तक बनी रहे—उसकी पीड़ा मालूम ही न हो और जीवन-समुद्र में कोई हलचल न हो (मनुष्य सांसारिक दैनिक व्यापारों में तल्लीन ही न हो)। हम निद्रावस्था में ही फिर बिछुड़े हुए मिलेंगे।

× × ×

पृष्ठ ५७—(१)—अँधेरी रात में यद्यपि आकाश में असंख्य तारक चमकते रहते हैं फिर भी पृथ्वी पर प्रकाश क्यों नहीं फैलता। इसका उत्तर कवि की कल्पना देती है :—

तारों भरी रात ऐसी जान पड़ती है मानो प्रकाश के बूँद पृथ्वी पर टपक रहे हों पर वे बूँद घना काला अन्धकार ही चुपचाप पी जाता है। (अंधकार की सघनता से ही नक्षत्रों का धीमा प्रकाश पृथ्वी पर आलोक नहीं फैला पाता।)

× × ×

पृष्ठ ५७—(२)—जब तुम्हारे सुख विलुप्त हो जाय तब भी तुम कहते हो कि "मैं न रोऊँ!" (मन की कितनी पराधीन अवस्था है यह!)

× × ×

पृष्ठ ५८—(१)—अपने आँसुओं को आँखों में भरकर उन्हीं में छुपा लेता है—अपने दुख-दर्द को किसी पर प्रकट न कर स्वयं क्यों उसमें भीतर ही भीतर झुलसता रहता है ! उसका भी गिरते समय एक बार धमाका तो उठता है। अतः दुखी मनुष्य, तू भी एक बार अपनी वेदना को संसार के सम्मुख खोलकर रख दे। तू जी उठेगा। (दबी वेदना शरीर के मर्मस्थल को गला डालती है।)

× × ×

पृष्ठ ५८—(२)—हर्ष और अवसाद दोनों को एक बनाकर तू नई सृष्टि का निर्माण कर।

× × ×

पृष्ठ ५८—(३)—इस पद में कवि दुखी मन से कहते हैं कि तू

अपनी ही समस्याओं पर आँसू बहाना छोड़कर संसार में फैली हुई व्यथा को अपना ले। संसार की समस्याओं को अपनी समस्या बनाकर उनके दुख को अपना दुख बना ले तब संसार में तू अपनी ऐसी कीर्ति-कथाओं को छोड़ जायगा जिसे सुनकर लोक-मनोरंजन होगा। (यदि तू अपनी ही व्यथाओं में दुखित होता रहेगा तो तुझे जनता क्यों अपना समझेगी और तेरी 'चर्चा' करेगी? परन्तु यदि तू लोक-दुख से दुखी होगा और उसे दूर करने की चेष्टा करेगा तो तेरा दायरा बढ़ जायगा, तू सभी की दिल-चस्पी का पात्र बन जायगा।)

× × ×

पृष्ठ ५९—(१, २) और पृष्ठ ६० का (१)—

कवि अपनी वेदना को संबोधित कर कहते हैं कि तुम सदा जलती रहती हो। जब रात में चंद्रमा घंटों जागकर 'प्रातः' सो जाता है और सूर्य भी दिन भर तपकर संध्या में डूब जाता है; जब आकाश-गंगा की धारा में तारे डूब जाते हैं—याने जब तारे भी आकाश में लोप हो जाते हैं और घनों के बीच बिजली भी छिपी रहती है—जब रात में घना अंधकार छाया रहता है और दिन भी बादलों के घटाटोप से अंधकारमय हो जाता है—बिजली की चमक भी उसे क्षणभर भंग करने को नहीं चमकती—तब भी तुम हे मेरी वेदना की ज्वाले! अकेली ही जलती रहती हो। तुम विश्व-मंदिर में मणि-दीप के समान पवित्र हो—प्रकाश-मयी हो! ('वेदना' यदि मनुष्यों के हृदय में न हो तो संसार में जीवन अंधकारमय हो जाय।)

पृष्ठ ६०—(२ और ३) तथा पृष्ठ ६१ (१)—इन पद्यों में भी अपनी वेदना-ज्वाला के सदा जागृत रहने का वर्णन किया गया है।

आकाश के नीचे ऊँची लहरों का पर्वत सर पर उठाए हुए समुद्र अपने में बड़वानल को छिपाये हुए है और संसार को वेदना पहुँचानेवाली ज्वालामुखी की आग पर्वत के भीतर ही अपनी लपटों को फैलाए अंध-

कार में पड़ी रहती है क्योंकि उसके भाग्य में यही लिखा है; परन्तु मेरा वेदना-ज्वाला को विश्राम नहीं है—वह सतत अकेली ही जलती रहती है।

× × ×

पृष्ठ ६१--(२)—(प्रेम की) वेदना से कवि कहते हैं कि तुम इस दुखी संसार के कष्टों को होली के समान जला देती हो। तुम सदा ही सौभाग्यवती बनी रहती हो (प्रेम का रंग 'अरुण' माना जाता है। 'मानवता' के साथ तुम सदा रहती हो। बिना प्रेम के मानवता जीवित नहीं रह सकती।)—मानवता के भाल को ऊँचा उठानेवाली हो, उसका गौरव बढ़ानेवाली हो उसके सिर का सिन्दूर हो। (यदि मनुष्य के हृदय में प्रेम की ज्वाला सो जाय तो उसमें कोमल भावनाएँ कहाँ से झाँक सकेंगी? वह तब तो सचमुच मानवता के शिखर से नीचे ढुलक जायगा। प्रेम की आग भौतिक अशिव मनोविकारों के अनावश्यक 'कूड़े-कर्कट' को जला डालती है।) इसी भाव को अगले पद्य में और भी स्पष्ट किया गया है।

× × ×

पृष्ठ ६१--(३)--पूर्व पद्य पढ़ने के पश्चात् इस पद्य का भाव स्पष्ट हो जाता है।

पृष्ठ ६२--(१)--प्रेम से जगत के संघर्ष (द्वन्द्व) मिट जाते हैं। वह दो विरोधी भावों को मिलाकर एक बना देता है। कवि अपनी प्रेम-ज्वाला से कहते हैं कि तुम अपनी लपटों से सारे संसार को आच्छादित कर दो, सारे संसार को प्रेममय बना दो। (आग की लपटों का रंग पीलापन लिए रहता है इसलिए 'केसर रज' से उनकी समता की गई है। 'परिणय' से दो व्यक्ति नज़दीक आकर एक बनते हैं और यह कार्य 'जयमाला' से हो जाता है। प्रेम संसार की दो भिन्न भावनाओं को एक बनाने में 'जयमाला' का ही कार्य करता है।)

× × ×

पृष्ठ ६२--(२)--जब मेरे हृदय में प्रेम की ज्वाला जलती रहती

अपनी ही समस्याओं पर आँसू बहाना छोड़कर संसार में फैली हुई व्यथा को अपना ले। संसार की समस्याओं को अपनी समस्या बनाकर उनके दुख को अपना दुख बना ले तब संसार में तू अपनी ऐसी कीर्ति-कथाओं को छोड़ जायगा जिसे सुनकर लोक-मनोरंजन होगा। (यदि तू अपनी ही व्यथाओं में दुखित होता रहेगा तो तुझे जनता क्यों अपना समझेगी और तेरी 'चर्चा' करेगी ? परन्तु यदि तू लोक-दुख से दुखी होगा और उसे दूर करने की चेष्टा करेगा तो तेरा दायरा बढ़ जायगा, तू सभी की दिलचस्पी का पात्र बन जायगा।)

× × ×

पृष्ठ ५९—(१, २) और पृष्ठ ६० का (१)—

कवि अपनी वेदना को संबोधित कर कहते हैं कि तुम सदा जलती रहती हो। जब रात में चंद्रमा घंटों जागकर 'प्रातः' सो जाता है और सूर्य भी दिन भर तपकर संध्या में डूब जाता है; जब आकाश-गंगा की धारा में तारे डूब जाते हैं—याने जब तारे भी आकाश में लोप हो जाते हैं और घनों के बीच बिजली भी छिपी रहती है—जब रात में घना अंधकार छाया रहता है और दिन भी बादलों के घटाटोप से अंधकारमय हो जाता है—बिजली की चमक भी उसे क्षणभर भंग करने को नहीं चमकती—तब भी तुम हे मेरी वेदना की ज्वाले ! अकेली ही जलती रहती हो। तुम विश्व-मंदिर में मणि-दीप के समान पवित्र हो—प्रकाशमयी हो ! ('वेदना' यदि मनुष्यों के हृदय में न हो तो संसार में जीवन अंधकारमय हो जाय।)

पृष्ठ ६०—(२ और ३) तथा पृष्ठ ६१ (१)—इन पद्यों में भी अपनी वेदना-ज्वाला के सदा जागृत रहने का वर्णन किया गया है।

आकाश के नीचे ऊँची लहरों का पर्वत सर पर उठाए हुए समुद्र अपने में बड़वानल को छिपाये हुए है और संसार को वेदना पहुँचानेवाली ज्वालामुखी की आग पर्वत के भीतर ही अपनी लपटों को फैलाए अंध-

कार में पड़ी रहती है क्योंकि उसके भाग्य में यही लिखा है; परन्तु मेरा वेदना-ज्वाला को विश्राम नहीं है—वह सतत अकेली ही जलती रहती है।

× × ×

पृष्ठ ६१—(२)—(प्रेम की) वेदना से कवि कहते हैं कि तुम इस दुखी संसार के कष्टों को होली के समान जला देती हो। तुम सदा ही सौभाग्यवती बनी रहती हो (प्रेम का रंग 'अरुण' माना जाता है। 'मानवता' के साथ तुम सदा रहती हो। बिना प्रेम के मानवता जीवित नहीं रह सकती)—मानवता के भाल को ऊँचा उठानेवाली हो, उसका गौरव बढ़ानेवाली हो उसके सिर का सिन्दूर हो। (यदि मनुष्य के हृदय में प्रेम की ज्वाला सो जाय तो उसमें कोमल भावनाएँ कहाँ से झाँक सकेंगी? वह तब तो सचमुच मानवता के शिखर से नीचे ढुलक जायगा। प्रेम की आग भौतिक अशिव मनोविकारों के अनावश्यक 'कूड़े-कर्कट' को जला डालती है।) इसी भाव को अगले पद्य में और भी स्पष्ट किया गया है।

× × ×

पृष्ठ ६१—(३)—पूर्व पद्य पढ़ने के पश्चात् इस पद्य का भाव स्पष्ट हो जाता है।

पृष्ठ ६२—(१)—प्रेम से जगत के संघर्ष (द्वन्द्व) मिट जाते हैं। वह दो विरोधी भावों को मिलाकर एक बना देता है। कवि अपनी प्रेम-ज्वाला से कहते हैं कि तुम अपनी लपटों से सारे संसार को आच्छादित कर दो, सारे संसार को प्रेममय बना दो। (आग की लपटों का रंग पीलापन लिए रहता है इसलिए 'केसर रज' से उनकी समता की गई है। 'परिणय' से दो व्यक्ति नज़दीक आकर एक बनते हैं और यह कार्य 'जयमाला' से हो जाता है। प्रेम संसार की दो भिन्न भावनाओं को एक बनाने में 'जयमाला' का ही कार्य करता है।)

× × ×

पृष्ठ ६२—(२)—जब मेरे हृदय में प्रेम की ज्वाला जलती रहती

है तो सारा दुखी संसार मेरी सहानुभूति—करुणा—का पात्र बन जाता है—मैं उसे अपने निकट अनुभव करने लगता हूँ। (प्रेम की भावना को व्यष्टि तक ही न रख जब हम समष्टि में बिखरा देते हैं तो हम संसार के सभी चैतन्य प्राणियों के दुख में दयार्द्र हो जाते हैं।)

× × ×

पृष्ठ ६२—(३)—जब हम किसी दुखी के प्रति प्रेम या सहानुभूति की भावना रखते हैं तो वह अपने हृदय पर कुछ भी आवरण नहीं रहने देता—अपनी व्यथा को खोलकर रख देता है। दुखी प्राणी अपना दुखड़ा सुनाकर निराश नहीं हो पाता क्योंकि हमारी सहृदयता उसके साथ होकर उसका दुख-भार हलका करती है।

× × ×

पृष्ठ ६३—कवि अपने हृदय की ज्वाला से कहते हैं कि तू संसार में व्याप्त हो जा। संसार जो निर्मम बन गया है—प्रेम की भावना को लोप करता जा रहा है, उसमें तू अपनी जलन भर। संसार यदि प्रेममय बन जायगा तो वह सचमुच आकर्षण की वस्तु हो जायगा। यदि तू यह कर सकी तो विश्व के लिए कल्याणप्रद सिद्ध होगी। ('ज्वाला' को शीतल इसलिए कहा है कि उसका प्रभाव शीतलता ही प्रदान करता है। इसके पूर्व भी कवि ने कहा है—

"शीतल ज्वाला जलती है, ईंधन होता दृग-जल का।")

× × ×

पृष्ठ ६४—(१ और २)—कवि प्रेम का इन पद्यों में आह्वान करते हैं—जिस प्रेम के सम्मुख कष्टमय जीवन भी सुखमय प्रतीत होता है, मृत्यु में भी अमरता का भान होता है, वही प्रेम ! मेरे सरस हृदय में हँसते हुए जाग उठो ! जिससे इस जीवन में फिर से मधुर भावनाओं का संगीत गूँज उठे।

पृष्ठ ६५—(१)—'मुस्कुराहट में पले हुए प्रेम ! तुम मेरी उसासों

में जाग उठो, मैं पुनः प्रेम के निःश्वास छोड़ने लगूँ'। (कवि की प्रेमल प्रकृति की इनमें कितनी स्पष्ट अभिव्यक्ति है। कवि प्रेममय जीवन ही विताना चाहते हैं, वे उसी के दर्द में उसासें भरकर सुखी होना चाहते हैं।) तुम कभी हँसाते और कभी रुलाते हो। (आँसू और मुसकानों की आँखमिचौनी का नाम ही प्रेम है।)

× × ×

पृष्ठ ६५--(२ और ३)--'यह संसार तो सपना है उसमें यदि सच्चा जीवन कहीं है तो प्रेम के स्पन्दन में ही है। इसीलिए कवि कहते हैं कि मेरे सुन्दरतम अभिलषित भाव! (प्रेम) तुम कल्याण से भरे हुए हो—तुम मेरे हृदय में जाग उठो।'

इच्छाओं से भरे हुए मानस-सरोवर में तुम कमल के समान खिल उठो और मधुपों की मीठी गुंजार के समान मुखर बन जाओ!

× × ×

पृष्ठ ६६--(१)--नीले आकाश को हम 'आशा' से ही व्याप्त देखते हैं पर उसमें हमें वास्तव में कुछ दिखलाई नहीं देता—'शून्यता' ही उसमें छाई जान पड़ती है। यदि करुणा की—एक दूसरे के प्रति समवेदना की—भावना नीचे पृथ्वी पर फैल जाय तो यह संसार सोने का बन जाय। (परस्पर प्रेम-भाव जागृत होने पर ही समवेदना पैदा होती है।)

× × ×

पृष्ठ ६६—(२)—प्रेम जब व्यक्तियों में जागृत होता है तो वे पुलक से भर जाते हैं और इस तरह उनमें नए संसार की सृष्टि हो जाती है। कवि कहते हैं कि प्रेम! तुम खूब विकसित होकर पनप उठो जिससे कोमल हृदयों में रस संचारित हो सके।

× × ×

पृष्ठ ६६—(२)—कवि अपने 'प्रिय' से कहते हैं कि—संसार

आकाश की ओर निहारकर तुमसे प्रेम रस की याचना करता है जिससे उसके दुखी हृदय में फिर से प्रसन्नता लौट आये।

पृष्ठ ६७—(१)—इस पद्य में कवि का विश्वास है कि सुख-दुख के संघर्ष के पश्चात् नवजीवन प्राप्त होता है और तब संसार हर्ष के आँसू बरसाता है।

× × ×

पृष्ठ ६७—(२)—यहाँ कवि अपने 'प्रिय' को प्रकृति के विभिन्न रूपों में देखने की साधना करते हैं। वे पूर्व की लाली में उसी का सुन्दर प्रतिबिम्ब देखते हैं, उषा में भी उसी की अलसाई आँखें उन्हें दीख पड़ती हैं।

"लाली मेरे लाल की, जित देखौं तित लाल।"

× × ×

पृष्ठ ६७—(३)—कवि कहते हैं कि यदि अम्बर-पट पर उषःकाल में कुछ ऐसी भी आकृति खिंच जाय जो 'प्रिय' से मिलती-जुलती हो तो उसकी एक झलक मेरे हृदय में कितनी अधिक मधुवर्षिणी होगी उसके दर्शन से मेरे हृदय की उलझनें ही दूर हो जायेंगी।

× × ×

पृष्ठ ६८—(१, २, ३)—कवि अपने 'प्रेम-प्रतीक' की कल्पना करते हैं :—

जिस 'मुख' पर नारी की स्वाभाविक सुन्दरता हँस रही हो और शिशु का पावित्र्य छलक रहा हो और गगन के रंग सा नील वस्त्र का अवगुण्ठन हो, उसे मेरी आँखें सँजोकर अपने में रख सकती हैं और मेरे प्रेम विह्वल हृदय में उल्लास का स्पन्दन बढ़ सकता है। ('नील वस्त्र' का परिधान 'प्रिय' में विशेष आकर्षण भर देता है। इसी से जयदेव-विद्यापति आदि मधुर भाव के कवियों की 'राधा' नील वस्त्र धारण कर, 'अमृत-रस' की अजस्र वर्षा करती है। 'नील-रंग' प्रेम की दृढ़ता का प्रतीक है; क्योंकि वह आसानी से नहीं छूटता।)

पृष्ठ ६९—(१)—कवि की कामना है कि यदि ऐसी प्रेम प्रतिमा मेरे दृष्टि-पथ में आ जायगी तो मेरी आँखें उसे अपने जीवन की समस्त कल्पनाओं की पवित्र साधों के साथ देखती रहेंगी। (मैं अपने 'मन-भावन' को सदा आँखों में बसाये रखूँगा।)

पृष्ठ ६९—(२)—काश मुझे वेदना में ही मिठास अनुभव होने लगती (मेरी एक के प्रति ही आसक्ति न रह जाती); मैं अपनी भावना को व्यापक बना सकता—सहृदय हो सकता।

× × ×

पृष्ठ ६९—(३) और पृष्ठ ७० (१)—स्पष्ट हैं।

× × ×

पृष्ठ ७०—(२)—मन में आवेगपूर्ण उठनेवाली तीव्र वेदना व्यर्थ नहीं जायगी; वह उस 'अनन्त' तक अवश्य पहुँचेगी और 'उसको' भी 'हिला' देगी।

× × ×

पृष्ठ ७१—(१)—'प्रिय' को देखकर प्रेमी की आँखों के कोने भींग उठते हैं। उस शीतलता के प्यासे 'प्रिय' के दर्शन की प्यासी आँखें उनके दर्शन के पश्चात् शीतलता अनुभव करती हैं। आँखों में चूंकि प्रिय की अनुकम्पा की माँग का भाव है इसीलिए 'दीनता' भी है।

× × ×

पृष्ठ ७१—(२)—'उसके' मधुर प्रेम में आँसू (फेनिल उच्छ्वास हृदय के) आँखों में भर आते हैं। वे 'सुकुमार आँसू' आँखों में आकर पलकों की छाया में ही मानो सो रहे हों।

× × ×

पृष्ठ ७१—(३)—जीवन के सुख-दुख दो किनारे हैं। वे आँसू की वर्षा से सिंचते रहते हैं और इसी से जीवन क़ायम रहता है। तभी कवि

कामना करते हैं कि जीवन की नदी में आँसू का जल सदा भरा रहे। (सुख-दुख दोनों के अतिरेक में आँसू बहकर जीवन में समरसता बनाए रखते हैं।)

× × ×

पृष्ठ ७२--(१ और २)—जिस प्रकार नदी-तट पर कहीं भी खड़े होकर देखने पर 'प्रवाह' में 'चंद्र का प्रकाश' हर स्थल पर दिखाई देता है; उसी प्रकार जब वेदना जागृत होती है तो आँसू बहते हैं और मन के सारे कलुष को धो देते हैं। (चंद्र की किरणें जिस तरह नदी के प्रवाह में हर जगह अपनी ही आभा छिटका देती हैं—सब जगह धवलता ही छाई दिखाई पड़ती है, उसी प्रकार जब वेदना जाग उठती है और आँसू बहने लगते हैं तो हमारी भावनाएँ पूत हो जाती हैं।)

× × ×

पृष्ठ ७२-(३)—कवि की कामना है कि पलकों की सीपी में समुद्र लहराने लगे; (आँसू से वे भर जायें) और यदि किसी के दुख पर करुणा जागृत होने से उनमें आँसू आये हों तो मन में कितना उल्लास छा जायगा, इसका वर्णन नहीं हो सकता।

× × ×

पृष्ठ ७३—(१)--'जब मेरे जीवन-सागर में निराशा का घना अंधकार छा जाय तब वेदने! समुद्र के प्रकाश-स्तम्भ (Light house) के समान तुम धीमी-धीमी जल कर मेरा पथ-प्रदर्शन कर देना।'

× × ×

पृष्ठ ७३—(२)—'मन में जितनी वेदनाएँ छुपी हों वे बाहर फूट निकलें।'

× × ×

पृष्ठ ७३—(३)—कवि की कामना है कि जीवन में वेदना व्याप्त

हो जाय। यह शरीर (धमनों के इस बंधन) रिक्त न रहे। (प्रेम-की) वेदना को अपने में भरे रहें।

पृष्ठ ७४—(१)—इस पद्य में वेदना की जलन को संबोधित किया गया है—तुम सदा से जीवन के साथ सम्बन्धित हो; दुनिया के दुख में तुम्हीं साथी हो। जब संसार सुख में डूबकर आलस में ऊँघने लगे तो तुम जागकर उसमें नया जीवन भर देना। (जब तक मनुष्य के हृदय में किसी घात की वेदना नहीं उठती वह अपनी हर स्थिति से संतुष्ट रहता है। 'वेदना' ही मनुष्य को उत्कर्ष पथ पर ले जाती है।)

× × ×

पृष्ठ ७४—(२)—प्रेम-वेदना की ज्वाला से संसार की सारी कालिमा जल जाती है। और तब पाप नामक कोई वस्तु नहीं रह जाती। चारों ओर पवित्रता चमकने लगती है।

× × ×

पृष्ठ ७५—(१)—जब संसार सुख-नींद में सो रहा है तब तुम कौन मेरे मन में जाग उठी हो ?

× × ×

पृष्ठ ७५—(२)—कवि को भान होता है कि सदा जीवन के साथ रहनेवाली वेदना ही जो आँसुओं के साथ रहती है, जाग उठी है।

× × ×

पृष्ठ ७६—(१)—जब मैं प्राकृतिक सौंदर्य में तुम्हें (वेदना को संबोधन करते हैं) भूल जाता हूँ तब तुम्हीं हृदय में कूक के समान मिठास भर कर छा जाती हो।

× × ×

पृष्ठ ७६—(२)—कवि अपनी वेदना से कहते हैं कि तुमने आकाश में किस चीज़ के दर्शन किये हैं ? रात में तुम कहाँ कहाँ घूम आई हो ? जो कुछ तुमने देखा हो उसे कहने में संकोच न करो।

पृष्ठ ७६—(३) तुमने देखा होगा कि सुन्दर मतवाली तारों भरी रात में सुखी-जन आराम से विश्राम ले रहे होंगे। उनके हृदय में कोई उथल पुथल न मचती होगी।

× × ×

पृष्ठ ७७—(१)—तुमने रात में कुमुदों पर ओस की बूँदें देखी होंगी, जो चन्द्र के प्रकाश में मोती जैसी चमक रही होंगी पर वे ओस की बूँदें नहीं थीं—कुमदों के रुदन के आँसू थे।

× × ×

पृष्ठ ७७—(२)—तुमने शशि को छूने के लिए लालायित पृथ्वी के नन्हे समुद्र की लहरों का उठना देखा होगा। और इस चेष्टा में उनका (लहरों का)गरजना और गिरना भी देखा होगा। यहाँ कवि संसार में लोगों की अनधिकार चेष्टा के परिणाम स्वरूप उत्पन्न विकलता की ओर इशारा करते हैं।

× × ×

पृष्ठ ७७—(३)—और पृष्ठ ७८—(१)—तुमने वे पर्वत-मालायें भी देखी होंगी जो युगों से चुपचाप अभिशाप स्वरूप प्रखर सूर्य-ताप में जलती रहती हैं। उन पर कभी कोई हरियाली नहीं उगती और कोई व्यक्ति भी नहीं पहुँचते। (कवि संसार के ऐसे भू-भाग की ओर संकेत करते हैं जो जड़-बुद्धि-आदिम वासियों से बसे हुए हैं। ऐसे व्यक्तियों में सभ्यता का कोई आकर्षण नहीं है। वे सभ्य संसार से दूर तिरस्कृत जीवन व्यतीत करते रहते हैं।)

× × ×

पृष्ठ ७८—(२)—तुमने संसार में स्वार्थ-लीला भी देखी होगी। भ्रमर कलियों का मधु पीने के पूर्व मधुर स्वर में गाता है और रस-पान के बाद कली को एकाकी छोड़ कर भाग जाता है (ध्वनि यह है कि संसार

में स्वार्थ सधने के पूर्व कपटी मधुर बातें करते हैं और फिर मुँह फेर लेते हैं।)

× × ×

पृष्ठ ७८—(३)—फिर तुमने उन असहाय व्यक्तियों को देखा होगा जो सांसारिक संघर्ष से निराश हो रो-रोकर जीवन व्यतीत कर रहे हैं। जिन्हें न शारीरिक और न मानसिक भोजन ही मिल पाता है। उनका सब कुछ लुटा हुआ दिखाई पड़ता है। (मिलक-दशा में ऐसे व्यक्तियों के सर्वनाश की कितनी सजीव ध्वनि है)

× × ×

पृष्ठ ७९—(१)—इस पद्य में कवि यह ध्वनित करते हैं कि संसार में सहृदयता का रस सूख गया है।

× × ×

पृष्ठ ७९—(२)—असहाय दीन व्यक्ति के पर्याप्त साधनों के अभाव में, जीवनान्त का यह चित्र है।

× × ×

पृष्ठ ७६—(३) अंत में कवि अपनी करुण भावना से कहते हैं कि संसार में सभी के प्रति—जिन्हें तुम्हारी आवश्यकता हो—सदय हो जाओ।

परिशिष्ट (ख)

जयशङ्कर प्रसाद

(जीवन-झलक)

सन् उन्नीस सौ अट्ठाइस; दिसम्बर का महीना, सुबह का समय; बर्फीली हवा बह रही थी, काटती सी; नगवा (हिन्दू विश्व-विद्यालय) की सड़क पर इक्के की तलाश में हम खड़े थे। "खटर-खटर" वह आ रहा था; आ गया। मटमैले रंग की चादर में काँपते हुए इक्केवान ने पूछा—

"कहाँ चली बाबू ?"

"शहर।"

"गुधौलिया ? चौक ? लंका ? कहाँ ?"

"सराय गोवर्धन।"

"आवा, बैठा।"

× × ×

हम अपने एक मित्र के यहाँ सराय गोवर्धन पहुँचे। वे आँखें मलकर उठे ही थे।

थोड़ी ही देर में उन्होंने कहा—"देखते हो, वे कौन हैं ?"

मैंने देखा— ठिगना गठा हुआ शरीर, गोल मुख, "बारहवर्णी" स्वर्णाभार से देदीप्यमान। कहा—"मैंने इन्हें 'माधुरी' में देखा है। ये जयशङ्कर प्रसाद हैं।"

"चलोगे मिलने ?"—मित्र ने पूछा।

"तुम तक आते समय मन में तुम ही न थे, ये भी थे।"—मुस्कुराकर मैंने कहा।

× × ×

हम सब उनके स्थान पर गये। परिचय-शिष्टाचार के पश्चात् हम उनके पास बैठ गये। उस समय 'आँसू' का प्रकाशन हो चुका था, उसकी मादकता से नवयुवकों का हृदय झूम-झूम उठता था। कविता में वह 'छायावाद' का युग कहा जाता था। छायावाद शब्द पर खूब चख-चख मची हुई थी। स्वर्गीय आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने अनन्त से टूट पड़ने वाले इस 'वाद' की रचनाओं की 'सुकवि किङ्कर' के वेष में बड़ी कड़ी आलोचना की थी। स्व० आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल की भी भौंहें तन रही थीं। उनकी आलोचनाओं में ऐसी कविताओं के प्रति यह झुँझलाहट भरी आवाज़ सुन पड़ती थी—

'लोगन कवित्त कीबो खेलि करि जान्यौ है!'

नयी प्रवृत्ति के समर्थकों में भी दो मत थे। एक इन कृतियों में अध्यात्मवाद—आत्मा-परमात्मा का 'विरह-पीड़न' और दूसरा लौकिकता याने शुद्ध 'प्रेम की पीर' ही देखता था। उस समय भी मुझे दूसरा मत ही अधिक साधु प्रतीत होता था। काशी के 'आज' में छायावाद-रहस्य-वाद पर जो विवाद छिड़ा था उसमें भाग लेते हुए मैंने 'प्रसाद' की रचनाओं में प्रेमवाद ही का प्रतिपादन किया था। 'आँसू' के सम्बन्ध में भी यही धारणा प्रकट की थी। जो व्यक्ति रहस्यवादी के गौरवपूर्ण नाम से स्मरण किया जाता है, उसे मैं लौकिक भावनाओं का स्रष्टा कहने का दुःसाहस कर चुका हूँ। अतः वह मुझसे किस तरह मुक्त हृदय से मिल सकेगा?...मैं सोच रहा था। इतने ही में मैंने सुना—" 'आँसू' सुनोगे?"—मेरे मित्र बोल रहे थे।

"भला ऐसा अवसर और कब मिलेगा?"—मैंने मित्र का समर्थन किया।

'प्रसाद' ज़रा 'हाँ-ना' के बाद ही राज़ी हो गए। सुखासन में बैठे-बैठे वे—

'इस करुणा कलित हृदय में, क्यों विकल रागिनी बजती ?
क्यों हाहाकार स्वरों में, वेदना असीम गरजती ?"

गा उठे; गाते ही गये, 'आँसू' समाप्त होने तक। कितनी तन्मयता—भाव-मुग्धता उनके वदन पर अंकित थी! उनकी वाणी में मिठास थी—छिपा-सा दर्द भी फूटने की चेष्टा करता था। विदा के समय अपनी दो-तीन पुस्तकें भी उन्होंने भेंट कीं। दूरी लेकर गया; निकटता पाकर लौटा।

× × ×

"प्रसाद' जी का मानसिक धरातल सचमुच बहुत ऊँचा है। उनका हृदय रस का ख़ज़ाना है। मेरी धारणा थी, 'आज' में उनके सम्बन्ध में जो दो चार अप्रिय वाक्य मेरे द्वारा लिखे गए थे उनका उनके मन पर असर होगा।"—मैं कह गया।

मेरे मित्र बोले—"नहीं जी, तुमने तो कुछ भी नहीं लिखा। वे बरसों से कड़वी आलोचनाएँ पी जाते हैं।"

"शंकर, जिस तरह काल कूट !"—मैंने कहा।

"और क्या! तभी तो उन्हें कहते हैं 'जयशङ्कर' "—मित्र बोले और सब हँस पड़े।

× × ×

सन् उन्नीस सौ अट्ठाइस के बाद सन् उन्नीस सौ छत्तीस में फिर काशी गया। उस समय गोवर्धन की 'सराय' सूनी थी, 'शंकर' अन्तर्धान हो गए थे। उनका 'प्रसाद' बँट चुका था—केवल उनकी जयध्वनि सुन पड़ती थी। आज भी वह सुनाई दे रही है, 'कल' भी देगी।

जिज्ञासा थी—काश 'प्रसाद' के जीवन की झाँकी देखने को मिलती! जानता, कवि ने अपने को अपनी कृतियों में किस तरह छिपाने का कौशल किया है। कवि के जीवन की खोज दो प्रकार से की जाती है—एक; कवि की कृतियों से; जब वह अपने सम्बन्ध में उनमें कुछ लिखता है। दूसरे; कवि के सम्बन्ध में प्रचलित किंवदन्तियों, उसके दर्शकों द्वारा लिखित संस्मरणों आदि से। पहले प्रकार से कवि के

जीवन का जो ज्ञान उपलब्ध किया जाता है उसे भीतरी ज्ञान और दूसरे प्रकार से प्राप्त ज्ञान को बाहरी ज्ञान कहते हैं। 'प्रसाद' जी ने अपने जीवन के विषय में स्वयं बहुत कम कहा है। काशी के 'हंस' के आत्मकथांक में हिन्दी के बहुत से कवि-कहानीकारों के आत्म-चरित्र छपे हैं। उसमें प्रेमचंदजी के बहुत आग्रह पर 'प्रसाद' जी ने अपना परिचय निम्न पंक्तियों में दिया था।

"मधुप गुन-गुनाकर कह जाता कौन कहानी यह अपनी,
मुरझाकर गिर रहीं पत्तियाँ देखो कितनी आज घनी।
इस गम्भीर अनन्त-नीलिमा में असंख्य जीवन इतिहास—
यह लो, करते ही रहते हैं, अपना व्यंग्य मलिन उपहास।
तब भी कहते हो—कह डालूँ दुर्बलता अपनी-बीती।
तुम सुनकर सुख पाओगे, देखोगे—यह गागर रीती।
किन्तु कहीं ऐसा न हो कि तुम ही खाली करने वाले—
अपने को समझो, मेरा रस ले अपनी भरने वाले।
यह विडम्बना, अरी सरलते! तेरी हँसी उड़ाऊँ मैं।
भूलें अपनी, या प्रवञ्चना औरों की दिखलाऊँ मैं।
उज्ज्वल गाथा कैसे गाऊँ मधुर चाँदनी रातों की?
अरे खिलखिलाकर हँसते होने वाली उन बातों की।
मिला कहाँ वह सुख जिसका मैं स्वप्न देखकर जाग गया।
आलिङ्गन में आते आते मुसक्याकर जो भाग गया।
जिसके अरुण-कपोलों की मतवाली सुन्दर छाया में।
अनुरागिनी उषा लेती थी निज सुहाग मधुमाया में।
उसकी स्मृति पाथेय बनी है थके पथिक की पन्था की।
सीवन को उधेड़कर देखोगे क्यों मेरी कन्था की?
छोटे से जीवन की कैसे बड़ी कथाएँ आज कहूँ?
क्या यह अच्छा नहीं कि औरों की सुनता मैं मौन रहूँ?

सुनकर क्या तुम भला करोगे—मेरी भोली आत्म-कथा ?
अभी समय भी नहीं—थकी सोई है मेरी मौन व्यथा।"

उक्त पंक्तियों में हमें कवि ने अपने सांसारिक जीवन की घटनाओं का विवरण नहीं दिया। उन्होंने सांकेतिक भापा में अपनी आशा और निराशाओं का एक करुण चित्र अवश्य प्रस्तुत किया है। जिससे हम निम्न अनुमान निकाल सकते हैं—

(१) 'प्रसाद' जी ने किसी से प्रेम किया था।

(२) उसकी रूप-माधुरी ने उन्हें आत्म-विभोर बना दिया था।

(३) किसी कारणवश वह उन्हें प्राप्य न हो सका।

("आलिंगन में आते-आते मुसक्याकर वह भाग गया।") अतः उन्हें उसका अभाव विह्वल बनाता रहा।

(४) प्रिय की सजल स्मृति उन्हें आजीवन बनी रही और उन्हें काव्य की सरस प्रेरणा प्रदान करती रही।

बाह्यसाक्ष्य में हमें उनके परम स्नेही श्री विनोदशंकर व्यास के संस्मरण प्राप्त होते हैं। उन्होंने लिखा है—" 'प्रसाद' जी की अल्हड़ जवानी में भी एक प्रेम घटना घटी थी। यह मुझे बाद में पता लगा। १२ फ़रवरी १९२६ ई० को मैंने उनसे पूछा—'आपकी रचनाओं में प्रेम का एक उज्ज्वल हिस्सा छिपा हुआ है, लेकिन मुझे आपने इतने दिनों में भी यह नहीं बतलाया कि आपकी वह अज्ञात प्रेयसी कौन थी ?' उन्होंने जो कुछ उत्तर दिया उसके पश्चात फिर इस सम्बन्ध में मैंने उनसे कुछ नहीं पूछा।" व्यासजी की इन पंक्तियों से भी हमारे उक्त निष्कर्षों का समर्थन होता है। 'प्रसाद' के जीवन का यह अंग जानना इसलिए आवश्यक है कि उनकी कृतियों में यह स्पन्दन का काम कर रहा है।

उनके चरित्र पर प्रकाश डालते हुए विनोदशंकरजी लिखते हैं—'प्रसाद' का सामाजिक जीवन बहुत ही स्पष्ट था। मैंने उन्हें सदैव

सात्विक पाया। पान को छोड़कर उन्हें और कोई व्यसन नहीं था। वह भाँग तक नहीं पीते थे—माँस-मदिरा से हार्दिक घृणा सी थी।

चौदह वर्ष तक प्राय: प्रतिदिन साथ रहते हुए भी मैंने उनमें कोई दुर्गुण नहीं देखा।... 'प्रसाद' जी का व्यायाम की ओर बचपन ही से अभ्यास था। वह एक हज़ार बैठक और पाँच सौ दण्ड अपने ज़माने में प्रतिदिन करते थे। फल, दूध और घी के अतिरिक्त आधा सेर बादाम प्रतिदिन खाते थे। जवानी में ढाका के मलमल का कुर्ता और 'शान्ति-पुरी' धोती पहनते थे। लेकिन बाद में खद्दर का भी उपयोग करते रहे। जाड़े में सुँघनी रंग के पट्टू का कुर्ता अथवा सकरपारे की सींयन का रुईदार ओवरकोट पहनते थे। आँखों पर चश्मा और हाथ में डंडा; प्रसादजी का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था।"

प्रसाद जी ने अपने जीवन में पुरस्कार रूप में एक पैसा भी किसी पत्र-पत्रिका से नहीं लिया। निस्स्वार्थ भाव से साहित्य-सेवा करते रहे। हिन्दुस्तानी एकेडमी से ५००) और नागरी प्रचारिणी सभा से २००) पुरस्कार उन्हें मिला था। यह ७००) भी उन्होंने नागरी प्रचारिणी सभा को अपने भाई के स्मारक स्वरूप दान दे दिया।......उन्होंने कभी किसी कवि-सम्मेलन अथवा सभा का सभापति होना स्वीकार नहीं किया। कवि-सम्मेलनों में अपनी कविताएँ सुनाना उन्हें पसन्द न था।...... (वे) धार्मिक मनोवृत्ति के पुरुष थे।......शिव के उपासक......। आचार व्यवहार में भी आस्तिक थे। किसी के हाथ की कच्ची रसोई खाने तथा जूता पहनकर पानी आदि पीने से परहेज़ रखने में भी वह दृढ़ थे। अपने अन्तिम समय तक जब पुजारी प्रतिदिन की तरह पूजा करके शिव का चरणामृत, बेलपत्र और फूल लाता तो वह उसे श्रद्धा से आँखों और मस्तक पर लगा लेते।

प्रसाद जी बड़े हास्यप्रिय थे। वह बड़ा सुन्दर मज़ाक करते थे, मित्र-मंडल में अपने अन्तरंगों के साथ।

'उन्हें पुष्पों से अधिक प्रेम था। उन्होंने अपने मकान के सामने एक छोटा सा बगीचा लगाया था...तरह तरह के फूलों की क्यारियाँ बनी थीं। गुलाब, जूही, बेला, रजनीगंधा, इत्यादि जब फूलते तो मुग्ध होकर वे देखते।......पारिजात के वृक्ष के नीचे एक पत्थर की चौकी थी। उसी पर बैठकर प्रसाद जी अपनी रचनाएँ सुनाते थे।' (आशा है, प्रसाद जी के मित्र एवं साहित्य प्रेमी उस ऐतिहासिक पारिजात वृक्ष और पत्थर की चौकी को चिरस्थायी बनाने का प्रयत्न करेंगे।)

इतना सब पढ़ चुकने के बाद भी आप जानना चाहते हैं कि 'प्रसाद' जी कौन थे? किस वंश में उत्पन्न हुए? उनका पारिवारिक जीवन किस प्रकार व्यतीत हुआ?

प्रसाद जी का जन्म सं० १९४६ में काशी में कान्यकुब्ज वैश्य वंश में हुआ था। आपके पूर्वज 'सुँघनीसाहु' कहलाते थे। आपके पितामह को काव्य के प्रति अनुराग था; दानी इतने थे कि लोग उनका 'जय महादेव' कहकर अभिवादन करते थे। कहते हैं कि काशी में अभिवादन का यह सम्मान या तो काशी-नरेश को प्राप्त रहा है या सुँघनीसाहु के व्यक्ति को। आपके यहाँ कविमण्डली जमती—समस्यापूर्तियों और कविता-पाठ की धूम मची रहती। 'प्रसाद' के मन पर इस वातावरण का प्रभाव पड़ा। आप लुक छिप कर 'कुछ' लिखा करते थे। बारह वर्ष की आयु में ही आप पितृविहीन हो गए। स्कूली शिक्षा सातवें दर्जे से आगे नहीं बढ़ पाई। घर पर ही आपको संस्कृत, अंग्रेज़ी पढ़ाने का प्रबंध किया गया। संवत् १९५७ में आपने अपनी मा के साथ ओंकारेश्वर, उज्जैन, पुष्कर आदि स्थानों की धार्मिक यात्रा की। मध्यप्रांत में नर्मदा के उद्गम स्थान—अमरकंटक—की यात्रा के समय उसकी वनश्री ने आपके हृदय में जो उल्लास, जो प्रेरणा दी वह आपको आजन्म स्मरण रही—विशेष कर पर्वतमाला के बीच नर्मदा के वक्षस्थल पर किया गया नौका-विहार का दृश्य सदा आपकी आँखों के आगे झूलता रहा।

पिता जी की मृत्यु के तीन वर्ष बाद ही आपकी माता ने सदा के लिए आपसे विदा ले ली; और दो ही वर्ष बाद आपके ज्येष्ठ भ्राता भी आपको परिवार में एकाकी छोड़कर स्वर्गवासी हो गए।

यौवन की देहली पर पैर रखते ही प्रसादजी पर यह पारिवारिक आघात !

तब क्यों आपके 'करुणा कलित हृदय में असीम वेदना' न गरजती ! आपने श्रीमती महादेवी के समान अपनी सजल अनुभूति को मनोवैज्ञानिक आवरण में यह कह छिपाने का प्रयास नहीं किया कि—"मैंने जीवन में कभी वेदना का अनुभव नहीं किया। इसी से मैं वेदना से प्यार करती हूँ।"

आपका हृदय वस्तुतः आघातों से जर्जरित होता रहा। वैवाहिक जीवन में भी आपको दो बार पत्नी-वियोग सहना पड़ा था।

सन् १९१० से आपकी साहित्य-सेवा का श्री गणेश होता है—आपके भान्जे बाबू अम्बिकाप्रसाद गुप्त ने "इंदु" को प्रकाशित करना प्रारम्भ किया। 'प्रसाद' जी उसके प्रमुख लेखक और कवि थे। 'सरस्वती' में उस समय आपकी कोई रचना नहीं छपी। इसका कारण, यह कहा जाता है कि "प्रसाद जी का आचार्य द्विवेदी से कुछ मतभेद था।"

आपने साहित्य के प्रत्येक अंग—निबंध, कहानी, उपन्यास, नाटक और कविता की पूर्ति की और उनमें अपने व्यक्तित्व को अंकित किया। आधुनिक साहित्य की प्रवृत्तियों का आरम्भ आपकी रचनाओं से होता है। बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न प्रसाद हममें अधिक काल तक न रह सके। हिन्दी के दुर्भाग्य से राज्ययक्ष्मा से पीड़ित हो आपने १५ नवम्बर १९३७ को अपनी इहलीला समाप्त की।

बाबू मैथिलीशरण गुप्त ने आपके निधन पर लिखा था :—

'जयशंकर' कहते-कहते ही अब भी काशी आवेंगे।
किन्तु 'प्रसाद' न विश्वनाथ का मूर्तिमान हम पावेंगे।
तात, भस्म भी तेरे तनु की हिन्दी की विभूति होगी।
पर हम जो हँसते आते थे, रोते रोते जावेंगे॥

बीस कवियों की समालोचना

(लेखक—दीपनारायण द्विवेदी एम० ए०)

पांचवाँ संस्करण, पृष्ठ संख्या १६०, मूल्य १।)

हाई स्कूल, इंटरमिडियेट और हिन्दी के छात्रों के लिये अत्यन्त उपयोगी पुस्तक।

हिन्दी समालोचना की कोई ऐसी पुस्तक आज तक नहीं छपी है इसमें विद्यापति, कबीरदास, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, जायसी, केशवदास, बिहारीलाल, भूषण, घनानन्द, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, जगन्नाथदास रत्नाकर, अयोध्यासिंह हरिऔध, मैथिली शरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, जयशंकर प्रसाद, गोपालशरण सिंह, सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला, सुमित्रानन्दन पंत, सुभद्राकुमारी चौहान, रामकुमार वर्मा, महादेवी वर्मा, हरिवंशराय बच्चन, जनार्दनप्रसाद झा द्विज, रामधारीसिंह दिनकर, श्यामनारायण पाण्डेय आदि के विस्तृत परिचय दिये गये हैं और उनकी भाषा तथा शैली का उदाहरण के साथ विशेष रूप से वर्णन किया गया है। साथ ही काव्य की विशेषताओं पर भी भली-भांति दृष्टिपात किया गया है।

सम्मति—

श्री दीपनारायण द्विवेदी लिखित यह पुस्तक स्कूलों की ऊँची कक्षाओं और कालेजों के इन्टरमिडिएट में हिन्दी साहित्य का अध्ययन करने वाले विद्यार्थियों के लिए बहुत ही उपयोगी है। कबीर से लेकर दिनकर तक के चुने हुए पच्चीस हिन्दी कवियों की संक्षिप्त आलोचना बड़े ही सरल ढंग से की गई है—विशेषतः परीक्षाओं में अक्सर पूछे जाने वाले प्रश्न "अमुक कवि की विशेषताओं पर प्रकाश डालिए" का उत्तर इ[illegible] के आधार पर आसानी से दिया जा सकता है।

नवल [illegible]

पटना वि[illegible]